बालकृष्ण भट्ट

म्युनिसिपल बोर्ड इलाहाबाद और हिन्दू विश्व-विद्यालय काशी के भूतपूर्व एक्जेकेटिव आफ़िसर एवं प्रयाग संग्रहालय के संस्थापक तथा निर्माता व्यास जी के इन अनूठे संस्मरणों से प्रातः-स्मरणीय भट्टजी के आद्यंत जीवन पर नया प्रकाश पड़ता है—त्याग और तपस्या से परिपूर्ण उनका ज्वलंत चित्र मूर्तिमान हो जाता है।

अंत में डा० रघुवंश ने अपने समीक्षात्मक लेख में भट्टजी के साहित्य पर भी एक सुलझी हुई दृष्टि डाल दी है।

बालकृष्ण भट्ट

[संस्मरणों में जीवन]

लेखक

ब्रजमोहन व्यास

नेशनल पब्लिशिंग हाउस

६६, दरियागंज, दिल्ली

त्वदीयं वस्तु गोविन्द ! तुभ्यमेव समर्पितम् ।

पूज्यपाद गुरुदेव के चरणों में

क्रम

चित्र-सूची

आमुख

अपने गुरुदेव पूज्यपाद पं० बालकृष्ण भट्ट के संस्मरण लिखने की बहुत दिनों से आकांक्षा थी परन्तु हिम्मत नहीं पड़ती थी। जिस प्रकार किसी तगड़े मनुष्य पर वार करने में लाठी दहलती है उसी प्रकार किसी महान् पुरुष के संस्मरण लिखने में लेखनी काँपती है। एक तो किसी पुरुष को पूर्ण रीति से सही-सही समझ पाना ही बहुत कठिन होता है और फिर उसे भाषा द्वारा अदा कर देना उससे भी अधिक कठिन होता है। कारण यह है कि असली मनुष्य तो गुह्यतम भावों में निहित रहता है जिसकी अभिव्यक्ति के लिये भाषा एक अत्यन्त निर्बल माध्यम है। जिसके लिये कहना पड़ता है कि—

नशक्यते वर्णयितुं तदा गिरा।
स्वयन्तदन्तःकरणेन गृह्यते॥

(अर्थात् जिह्वा उसे वर्णन नहीं कर सकती। केवल उसे अन्तःकरण ही जान सकता है।) और यदि उस महान व्यक्ति की मनःप्रवृत्ति में विरोधाभास का प्राचुर्य हुआ तो संस्मरण लिखने वाले के हाथ-पाँव फूल जाते हैं। ठाकुर जी का पूजन करने के समय लम्बी राधिका की मूर्ति के सिंहासन में बार-बार लुढ़क जाने के कारण भट्टजी का खिसिया कर यह कहना कि "लँगड़ो सीधे से खड़ी हो नहीं तो उठाय के पटक देबै" और उनकी धर्मनिष्ठा एवं देवभक्ति का समन्वय करना एक समस्या हो जाती है। ऐसे 'वज्रादपि कठोराणि मृदूनिकुसुमादपि' अनेक विरोधाभासात्मक संस्मरण भट्टजी के जीवन से सम्बन्धित हैं। परन्तु यदि इनका विश्लेषण

भट्टजी के हृदय की गहराई में पैठकर किया जाय तो वे सब 'तिल की ओट पहाड़' की तरह मालूम पड़ेंगे। मेरी समझ में किसी भी व्यक्ति का संस्मरण तभी सच्चा उतर सकता है जब कि लेखक का संस्मरण-नायक से निकट सम्पर्क रहा हो और उसको उसने हर पहलुओं से देखा और समझा हो। ऐसा न होने से परिणाम यह होता है कि मनुष्य कुछ है और उसका चित्रण उसके बिलकुल विपरीत होता है। यह संस्मरण नायक के साथ घोर अन्याय है। इस सम्बन्ध में मुझे एक घटना याद आ गई जो मेरी इस मीमांसा का समर्थन करती है।

प्रयाग में यमुना के उस पार सिसेंधी के राजा रहा करते थे। उनका इलाक़ा 'कोरट' हो गया था। सरकार की दृष्टि में उनके अयोग्य होने ही के कारण ऐसा हुआ होगा। महाराज 'पागल राजा' के नाम से प्रसिद्ध थे। यह मानना पड़ेगा कि उनके दिमाग़ की एक चूल ढीली थी। परन्तु ऐसा दिमाग़ जिसकी सब चूलें ठीक-ठीक सली हों एक दुर्लभ पदार्थ है। कोई इस पचड़े में पड़े तो संभवत: उसे दुनिया के अधिकांश आदमियों से सम्पर्क छोड़ना पड़े। मेरे एक मित्र वैद्य थे और आडम्बर-प्रिय थे। बनारस में ननिहाल होने के कारण उनके रहन-सहन, बोल-चाल में बनारसी नोक-झोंक यथेष्ट मात्रा में थी। प्रयाग के निवासी होने के कारण उन्हें चन्दा माँगने में कोई हिचक न थी। स्थानीय वैद्य-मण्डल के मन्त्री होने के नाते उन्हें महाराज सिसेंधी के यहाँ चन्दा माँगने के लिये यमुना पार जाने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। पहुँचते ही एक भृत्य थाल में जल-पान की सामग्री लिये वैद्यराज के पास आया और उनसे जलपान करने का सादर अनुरोध किया। वैद्यराज जब जलपान से निवृत्त हुए तो भृत्य ने उनके सामने एक स्लेट रख दिया जिसके शीर्ष पर खड़िया से लिखा था 'कार्य'। वैद्यराज ने उस पर 'दर्शनार्थ' लिखकर भृत्य को लौटा दिया। थोड़ी ही देर में उनका महाराज के सामने आह्वान हुआ। महाराज ने उन्हें बड़े आदर से अपने पास बिठाया। बड़े प्रेम के साथ विविध प्रकार के विषयों पर बातचीत होने लगी। महाराज की प्रतिभा एवं

सौजन्य पर वैद्य जी मुग्ध हो गये और सोचने लगे कि देखो तो लोगों ने महाराज को पागल कहकर नाहक़ बदनाम कर रखा है। बातचीत के प्रसंग में 'शामते-आमाल' कहीं वैद्यराज ने कह दिया कि वे वैद्य-मण्डल के लिये चन्दा माँगने आये हैं। महाराज के दिमाग की वह ढीली चूल सहसा ज़ोर से चरमरा उठी। महाराज ने भृकुटी चढ़ा लिया और बोले 'आपने तो लिखा था कि आप केवल दर्शनार्थ आये हैं। इस प्रकार धोखा देकर चन्दा माँगने में आपको लज्जा नहीं आती? आप तुरन्त यहां से चले जाइये।" वैद्यराज सक्ते में आ गये परन्तु तुरन्त ही उनकी बनारसी नोक तेज हो गई। वे उठ खड़े हुए और बोले "महाराज! आपको जैसा सुना था वैसा ही पाया।" व्यङ्ग स्पष्ट था कि आपको पागल सुना था सो सचमुच पागल पाया। मेरे मित्र ने यह घटना मुझे सुनाई और यह कह कर सन्तोष कर लिया कि राजा नहीं है 'गदाई' है। परन्तु मैं सतर्क हो गया क्योंकि स्थानीय रामलीला कमेटी ने मुझे भी महाराज से चन्दा लाने के लिये बाध्य किया था। मैं यमुना पार कर महाराज के स्थान पर एक दिन पहुँच गया। निर्धारित क्रमानुसार जलपान की थाल और स्लेट आ गई। मैंने स्लेट पर 'चन्दा माँगने के हेतु' लिखकर लौटा दिया। थोड़ी ही देर में महाराज के सामने पेशी हुई। महाराज ने बड़े स्नेह से अभिवादन किया जिसमें संस्कृत शब्दों की भरमार थी। मैंने मन में कहा 'भवहृदय साभिलाषं।' इसके बाद साहित्य-चर्चा छिड़ गई। फिर क्या दोनों ही ओर से श्लोकों की बौछार होने लगी। महाराज संस्कृत साहित्य के अच्छे ज्ञाता थे। वे मुझसे बड़े प्रभावित हुए। मैं यही चाहता भी था। मैंने सोचा—

मछली को ढील दी है वह लुक्मे पै शाद है।
सैयाद मुतमइन है कि काँटा निगल गई॥

वार्तालाप के प्रसंग में महाराज ने अपने पागलपने की गुत्थी सुलझा दी। कहने लगे "व्यासजी! मुझे लोग पागल कहते हैं। कारण यह है कि मेरे कुछ सिद्धान्त हैं जिन पर अडिग रहता हूँ। हो सकता है कि

अपने सिद्धान्तों पर दृढ़ रहना आजकल की सभ्यता की दृष्टि में पागल-पना हो। परन्तु इसमें मेरी लाचारी रहती है। मैं लोगों से बहुत कम मिलता-जुलता हूँ। वे मेरा सम्पूर्ण स्वरूप देख ही नहीं पाते। अभाग्य-वश उन्हें प्रायः मेरे सिद्धान्तों का ही सामना करना पड़ता है और यहीं गड़-बड़ी हो जाती है। अभी पारसाल ही की बात है, मैं काशी में सायंकाल के समय गंगा-स्नान कर रहा था। यदि सुयोग हुआ तो मैं दोनों समय गंगा-स्नान करता हूँ। मेरा यह दृढ़ नियम है कि मैं ठीक सूर्योदय और सूर्यास्त के समय सूर्य को अर्घ्य देता हूँ। किसी और समय अर्घ्य देना मैं लीक पीटना समझता हूँ जो मुझे ग्राह्य नहीं है। और चूंकि मुझे स्नानादिक नित्य-कर्म में देर लगती है और उस समय मुझे किसी प्रकार का शोर-गुल नापसन्द है, मैं एकान्त स्थान में नहाता हूँ और अपने दोनों ओर बहुत पहिले से मशाल जलवा लेता हूँ। इस कारण प्रतिदिन दोनों जून थोड़ा-सा ऐसा समय अवश्य रहता है जिसमें सूर्य का प्रकाश हो और मशाल जलती रहे। उस दिन संध्या समय जब मैं स्नान कर रहा था सूर्यास्त अभी नहीं हुआ था और मशालें जल रही थीं। एक नाव पर कुछ लोग नाच देखने रामनगर जा रहे थे। मेरे कानों में शब्द पड़ा : 'यह कौन है जो दिन में मशाल जलवाकर नहाता है' किसी ने उत्तर दिया 'वही पागल राजा'। मुझे मन ही मन हँसी आई। बात खतम हो गई। दूसरे दिन प्रातःकाल मैं फिर उसी स्थान पर पूर्वक्रमानुसार मशाल जलवा-कर स्नान कर रहा था और वही लोग नाच देखकर उसी डोंगी पर लौट रहे थे। मेरे कानों में फिर ये शब्द पड़े 'अरे ! यह पागल राजा तो रात भर स्नान करता रह गया'। मेरे पागलपने पर मुहर हो गई।" तदनन्तर उन्होंने मेरा चन्दा इत्यादि से सत्कार किया और मैं सन्तुष्ट होकर घर लौटा। परन्तु महाराज के पागलपने के बारे में मैं कोई ठीक राय क़ायम न कर सका। इतना थोड़ा-सा परिचय मनुष्य के बारे में राय क़ायम करने के लिए काफ़ी भी न था। इसी कठिनाई का सामना संस्मरण लेखक को करना पड़ता है। पूरी जानकारी न होने के कारण मनुष्य कुछ

है, लिखते कुछ हैं। यही कारण है कि कभी-कभी बड़े-बड़े महापुरुषों के चित्र असलियत से बहुत दूर रहते हैं। गरीब भट्टजी के हृदय की थाह न पाने के कारण उनके परम मित्र और हितेच्छु मुंशी रामप्रसाद जी वकील ने उन्हें (idiot) पागल कहा था। जब वकील साहब ने उनसे कहा कि आप वकालत-नामा और अर्जी नालिश पर दस्तखत भर कर दें फिर वे संयुक्त परिवार के आधार पर उनके छोटे भाई की दस लाख की सम्पत्ति का आधा हिस्सा बँटवा लेंगे तब भट्टजी ने साफ़ इन्कार कर दिया। इस पर उनके मित्र ने उन्हें idiot कहा। वकील साहव ने अपने मित्र की गरीबी ही देखी थी हृदय नहीं। किस प्रकार वे भट्टजी का मूल्यांकन कर सकते थे। शंकर के भक्त, भट्टजी के मुख से यह सुन-कर कि "शङ्कर रहें खूसट, उनही तो देश का नाश किहिन है" कैसे किसी की समझ में आ सकता है जब तक वह भट्टजी के देश-प्रेम की गहराई तक न पहुँचे। किसी भी मनुष्य को भली-भांति समझने के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि उसका चित्र खींचने के पहिले चित्रकार उसे हर पहलू से देखे और समझे। इस सम्बन्ध में गान्धीजी का एक कथन याद आ गया। उन दिनों गान्धीजी नोआखाली के हत्याकाण्ड से व्यथित होकर उस प्रदेश का परिभ्रमण कर रहे थे। कलकत्ता विश्वविद्यालय ने अपने एक विद्वान् प्राध्यापक श्री निर्मलकुमार बोस को गान्धीजी की सहायता के लिये भेजा था। बोस महोदय सदा उनकी सेवा में तत्पर रहते थे। वे गांधीजी के भक्त तो थे ही पर अन्धभक्त नहीं थे। वे गांधीजी की बातों को अपनी बुद्धि की कसौटी पर कसते थे। ऐसी परिस्थिति में बातचीत में मतभेद होना अनिवार्य था। एक साथ रहते हुए भी उन मतभेदों पर आपस में पत्र-व्यवहार चलता रहा था। उसी प्रसंग में गांधीजी ने उनसे कहा था कि यदि तुम हमें ठीक-ठीक समझना चाहते हो तो तुम्हें दिनरात हमारे साथ कुछ समय तक रहना होगा। अस्तु।

यदि कोई मुझसे कहे कि एक छोटे से पद में भट्टजी का चित्रण करो तो मैं कहूँगा 'एक पवित्रात्मा देशभक्त हिन्दी का सेवक' इसके अन्तर्गत

आप जितना चाहें वाचस्पत्य कर सकते है। वे नितान्त सरल स्वभाव थे 'मृदूनि कुसुमादपि' थे। परन्तु अनाचार से कुढ़कर वे 'वज्रादपि कठोराणि' हो जाते थे। उनके सरल स्वभाव के सम्बन्ध में माघ का यह श्लोक पूर्णतया लागू होता है :—

> **लज्जते न गदितः प्रियं परो**
> **वक्तुरेव भवति त्रपाधिका।**
> **व्रीडमेति न तव प्रियं वदन**
> **ह्रीमतात्र भवतैव भूयते॥**

जिसका भावार्थ यह है कि प्रायः मनुष्य को अपनी प्रशंसा सुनने में, उसके अयोग्य होने पर भी लज्जा नहीं आती बल्कि प्रशंसक ही को इतना बढ़-चढ कर प्रशंसा करने में लज्जा का अनुभव होता है। परन्तु आपकी कितनी भी हम प्रशंसा करें हम लज्जा का अनुभव नही करते क्योंकि आप उससे भी अधिक प्रशंसा के पात्र है। और आप इतने सरल स्वभाव हैं कि प्रशंसा से आप स्वयं ही लज्जित होते हैं। अस्तु।

मैं भट्टजी के गुणों का कहा तक वर्णन करूं। मैंने जो कुछ संस्मरण लिखे हैं उनसे तो उन गुणों की झाँकी मात्र मिलती है। कारण यह है भट्टजी अपने ही युग के नहीं आजकल के युग से भी बहुत आगे के महापुरुष थे। उनकी प्रतिभा चौमुखी थी। वे किसी एक विषय के हाथ बिके नहीं थे। धर्म, समाज, राजनीति जहा भी वे अनाचार, अन्याय, द्वेष देखते थे उसका घोर विरोध करने के लिये वे मैदान में कूद पड़ते थे। भय उनको छू नही गया था। यदि ऐसा न होता तो जब ब्रिटिश साम्राज्य का सूर्य प्रजा को झुलसा रहा था, वे उसकी इतनी कड़ी समालोचना कैसे कर सकते जिसके कारण वे किसी दिन भी जेल जा सकते थे। 'ठाकुर' ने ठीक ही तो कहा है—

> **बैर प्रीत करिबे की मन में न राखें शंक**
> **राजा राव देखि कै न छाती धाकधा करी**

आपने उमंग के निबाहिबे की चाह जिन्हें
एक सों दिखात तिन्हें बाघ और बाकरी
'ठाकुर' कहत मैं विचार कई बार देख्यों
यही मरदानन की टेक बात आकरी
गही तौन गही बात छाड़ी तौन छाँड़ि दई
करी तौन करी बात ना करी सो ना करी

ऐसे निर्भीक, अपने धुन के पक्के, विरले ही पुरुष होते हैं।

लक्ष्मी तो सौतिया डाह के कारण भट्टजी के पास कभी फटकी ही नहीं, पैत्रिक सम्पत्ति उन्होंने इस लिए ठुकरा दिया कि वह उनकी कमाई का नहीं था। 'सुत्तनिपात'[१] के धनिय गोप की भाँति वे 'वेतन भतोहमस्मि' अपनी कमाई के पैसे से अपने भरण-पोषण में विश्वास करते थे। कायस्थ पाठशाला की हेड पण्डिताई में थोड़ी तनख्वाह। इसके ऊपर 'हिन्दी प्रदीप';'गण्डस्यो परि पिण्डकः संवृत्तः' उनके गले पड़ी थी। 'हिन्दी प्रदीप' का यह हाल था कि उसका वार्षिक चन्दा दो रुपये चौदह आने होने पर भी उसकी ग्राहक संख्या कभी दो सौ से अधिक नहीं हुई। इतने पर भी लोग चन्दा नहीं देते थे जिसका परिणाम यह होता था कि गृहस्थी भगवान के हाथ सौंप अपना पूरे महीने का वेतन प्रेस को दे आते थे। ऐसी विषम परिस्थिति में उन्होंने 'हिन्दी प्रदीप' का ३२ वर्ष सम्पादन किया। कितनी बार

---

१. पाली 'सुत्तनिपात' में एक कथा है कि 'धनिय' नाम का गोप अपने पौरुष पर विश्वास करने के कारण इन्द्र को चुनौती दे रहा है। घोर वर्षा हो रही है। उससे तनिक भी विचलित न होकर कहता है :—

"वेतन भतो ऽह मस्मि पुत्ता चमे समानिया अरोगा।
तेसं न सुणामि किंचि पापं अथचे पत्थयसी पवस्स देव॥

भावार्थ—मैं अपनी ही कमाई से गृहस्थी का भरण-पोषण करता हूँ। मेरे पुत्र और पुत्रियां नीरोग और स्वस्थ हैं। उनके सम्बन्ध में भी कोई अनुचित अथवा पाप की बात नहीं सुनी। देव! तुम जितना चाहो बरस लो। हमारा कुछ बिगाड़ नहीं सकते।

प्रदीप के बुझने की नौबत आई पर अपना स्नेह उड़ेल कर उसे बुझने नहीं देते थे।

एक बात और कहना है। और उसका स्पष्टीकरण नितान्त आवश्यक है। पाठक इन संस्मरणों को केवल संस्मरण के रूप में पढ़ें। केवल इनके सहारे भट्टजी के सम्पूर्ण व्यक्तित्व के चित्रण करने का प्रयास न करें, नहीं तो गलती करेंगे। ऐसा करना भट्टजी के साथ अन्याय होगा और उसका पाप भागी मैं हूँगा। यह उसी प्रकार विफल होगा जैसे केवल विष्कम्भक से अभिज्ञान शाकुन्तल का मूल्यांकन करना अथवा बुदबुद एवं तरंग से समुद्र की कल्पना करना। 'सामुद्रोहि तरङ्गः क्वचन समुद्रो न तारङ्गः' समुद्र को समझने के लिये उसके गांभीर्य और मर्यादा का परिज्ञान आवश्यक है। भट्टजी के उदात्त चरित्र, उनकी चौमुखी प्रतिभा, उनके अगाध पाण्डित्य को समझने के लिए यह आवश्यक है कि उनके 'हिन्दी प्रदीप' एवं अन्य कृतियों का गम्भीर अध्ययन किया जाय। तभी ये संस्मरण उन्हें मूर्त करने में समर्थ होंगे। खेद का विषय है कि इस समय 'हिन्दी प्रदीप' ऐसी निधि के सम्पूर्ण अँक किसी एक स्थान में उपलब्ध नहीं है। मैंने तो इन संस्मरणों में एक स्थान पर कहा है कि यदि कोई व्यक्ति अथवा संस्था इनके प्रकाशन का प्रबन्ध करे तो मैं उनके एकत्रीकरण का दायित्व अपने ऊपर ले सकता हूँ।

इन संस्मरणों को मैंने 'स्वान्तः सुखाय' लिखा है। लिखने में मैं सफल हो सका या नहीं 'आपरितोषाद्विदुषां' कैसे कह सकता हूँ। परन्तु इतना कहना सम्भवतः असंगत न होगा कि जब भट्टजी के सुपुत्र पं० जनार्दन भट्टजी ने संस्मरणों को पढ़ा तो उन्होंने मुझे लिखा···"इन संस्मरणों को पढ़ने से अतीत के अनेक दृश्य और घटनायें जो विस्मृति के गर्भ में छिपी पड़ी थीं, सहसा फिर जाग उठीं और चलचित्र के समान आंखों के सामने एक-एककर नाच गयीं। संस्मरण में उल्लिखित अनेक पात्र, जो समय के रंग-मंच पर जीवन के नाटक में अपना-अपना पार्ट अदा कर अन्तिम पटाक्षेप के साथ सदा के लिये चले गये हैं, उनकी स्मृति ताजी हो गयी और सहसा

आंखों में आंसू आ गये, हृदय भर आया और कुछ क्षण के लिये दुचित्ता और शून्यमनस्क सा बैठा रह गया। उस समय के तथा उन घटनाओं से सम्बन्धित कुछ लोग जो बचे हुए हैं वे भी अब एक-एक करके कूच करते जा रहे हैं। 'बहुत आगे गये बाकी जो हैं तैयार बैठे हैं।' 'अहन्यहनि भूतानि गच्छन्ति यम मन्दिरम्।' इस दशा में मैं अपने को उस कगारे के वृक्ष के समान अनुभव कर रहा हूँ जिसका उल्लेख भर्तृहरि ने निम्नलिखित श्लोक में किया है :—

वयं येभ्यो जाताश्चिर परिगता एव खलुते
समं वै संवृद्धाः स्मृति विषयतां तेऽपि गमिताः।
इदानी मेते स्मः प्रतिदिवसमासन्न पतनाद
गता स्तुल्यावस्थां सिकतिल नदी तीर तरुभिः॥"

जनार्दन जी के ऐसा लिखने पर इन संस्मरणों के सम्बन्ध में मुझे सन्तोष हुआ। पर इतना मैं कह सकता हूं कि यदि भट्टजी इस समय जीवित होते और इन संस्मरणों को पढ़ते तो वात्सल्य भरे शब्दों में इतना अवश्य कहते 'तैं बड़ा बाजपेयी है। पर ईतो बताव कि एमे उर्दू के शेर इतना काहे ठूंसे। दाल में नमक के बराबर तो अच्छी मालूम होथी। मालुम होत है बहुत प्रयास कर लिखे हैं। प्रयास कर लिखै से भाषा का प्रसाद गुण चौपट होय जात है। लिखत जाव, लिखत लिखत लिखै आई। लिखै में विवेक और नियंत्रण से काम लिया करौ। विद्वत्ता का प्रदर्शन न करने ही से विद्वत्ता झलकती है।'

इसे भी करके देखूँगा। देखूँ आती है कि नहीं।

७।१२।१९५९ — ब्रज मोहन व्यास

एक

मेरी समझ में किसी व्यक्ति के संस्मरण लिखने का वही अधिकारी है जिसका संस्मरण-नायक से अति निकट सम्पर्क रहा हो, जो उसके साथ उठने-बैठनेवालों में रहा हो और जिसने उसके हर पहलू को उसके हृदय में बैठकर देखा और समझा हो। तभी संस्मरण यथार्थ रूप में मूर्त्त होता है।

संस्मरण लिखने के साथ-साथ यह स्मरण रखना आवश्यक है कि जीवन की जिन विषम समस्याओं के बीच में रहकर, जिन कठिनाइयों एवं अभावों (विशेषकर आर्थिक) को झेलते हुए भट्टजी ने साहित्य-सेवा की है उनमें कोई भी साधारण व्यक्ति विचलित और क्षुब्ध होकर साहित्य-सेवा को बालाएताक़ रख देता है। भट्टजी के अदम्य उत्साह का मूल-मंत्र 'जिगर' के इस शे'र में प्रतिध्वनित होता है :—

चला जाता हूँ हँसता-खेलता बहरे-हवादिस में।
अगर आसानियाँ हों ज़िन्दगी दुश्वार हो जाये।।

पूज्यपाद भट्टजी मेरे गुरुदेव थे। संस्कृत साहित्य के प्रकांड एवं रसिक पंडित थे। प्रफुल्ल साहित्योद्यान के एक मधुलोलुप

भृंग थे। साहित्य-गणिका के नाज़बरदारों में थे।

> वेश्यानामिव विद्यानां मुखं कैः कैर्न चुम्बितम् ?
> हृदयग्राहिणस्तासां द्वित्राः सन्ति न सन्ति वा ॥

उन 'द्वित्रा' में भट्टजी थे। 'गाँठ में पैसा नाहीं सिकोटी का घोड़ा!' साहित्य की पुस्तकों के खरीदने के लिए पास में पैसा नहीं, साहित्यसाधना के साधन नहीं, 'हिन्दी प्रदीप' के लिए अगाध स्नेह होते हुए बूंद भर तेल नहीं, सम्पादन के लिए आँखों में पर्याप्त ज्योति नहीं; फिर भी सबकी पूर्ति करनेवाली केवल एक अविच्छिन्न लगन थी। हँसी आती है। यह केवल हँसी नहीं है। इसमें कारुणिक आँसुओं का विष घुला हुआ है :—

> इन आँसुओं की हक़ीक़त को कौन समझेगा।
> कि जिनमें मौत नहीं ज़िन्दगी का मातम है ॥

अभावों के इस अन्धकार में, गहन जलधरों के बीच विद्युत्-सा, कसौटी पर स्वर्ण-रेखा-सा केवल एक सहारा था। वह था साहित्यानुशीलन जो उनके हृदय को आलोकित करता रहता था और सम्पूर्ण अभावों पर पानी फेर देता था। बात कुछ साहित्यिक ढंग से कही गई है पर यथार्थ है।

एक दिन मुझसे कहने लगे "भैया आज हम कायस्थ पाठशाला की पुस्तकालय से 'बार्हस्पत्य' (कोष) चुराय लाये। पुस्तक की चोरी चोरी नहीं कहलाती। कहाँ से बारह रुपया लाई तो खरीदी। हुआँ आलमारी में पड़ी सड़ती रहती। कौन पढ़ता? हम तो ओका उपयोग करबै।" कोई इसे भले ही चोरी कह लें। ताज़ीरात हिन्द की परिभाषा में चोरी है भी। परन्तु 'ताज़ीरात

हक़ीक़ी' में यह कोई जुर्म नहीं है।

मैं कह चुका हूँ कि पूज्यपाद भट्टजी मेरे गुरुदेव थे। संस्कृत मैंने उन्हींसे पढ़ी थी। इसका एक छोटा-सा संस्मरण है। परन्तु बड़ा मजेदार है। सुनियेगा ? मेरे पिता श्री भट्टजी के अनन्य मित्र थे। दोनों की खूब पटती थी। कारण दोनों ही संस्कृत के प्रेमी थे। पिताजी का ऐसा कहना था कि मनुष्य को उस दुनिया के लिए संस्कृत पढ़ना चाहिए और इस दुनिया के लिए उर्दू। सोचते थे कि कौन जाने पुत्र की यह दुनिया सधै या न सधै। उसकी वह दुनिया साध लेना चाहिए। एतदर्थ उन्होंने भट्टजी से मुझे संस्कृत पढ़ाने का अनुरोध किया। उस समय मैं एफ० ए० में पढ़ता था। मैं संस्कृत में बहुत कमज़ोर था, यद्यपि स्मरण-शक्ति मेरी पैत्रिक सम्पत्ति थी। अपनी अयोग्यता का थोड़ा-सा परिचय दे दूँ। संस्मरण की पृष्ठभूमि के लिए आवश्यक है। पाठ्य-क्रम में रघुवंश के प्रथम दो सर्ग थे। प्रत्येक श्लोक का भावार्थ संस्कृत में सटीक रघुवंश में दिया था। मेरी बन आई। मैंने सबको 'मक्षिकास्थाने मक्षिका' न्याय से घोंट डाला। "मन्दः कवियशःप्रार्थी गमिष्याम्युपहास्यताम्। प्रांशुलभ्ये फले लोभादुद्बाहुरिव वामनः"। टीका के 'उच्छ्रितहस्तस्य वामनस्य चेष्टा तथा उपहसनीया भवति' के 'चेष्टा' शब्द का 'चे' छपाई में गायब हो गया था। अतः मैंने बिना 'चे' के केवल ष्टा कंठस्थ किया। मुझे क्या मालूम कि संस्कृत वाङ्मय में 'ष्टा' ऐसा शब्द होता है या नहीं। उस समय मुझे नहीं मालूम था कि पाणिनि का एक सूत्र है 'ष्टुनाष्टुः'। यदि मालूम होता तो कोई बात बनाकर अपनी झेंप मिटा लेता। ऐसे निरक्षर पुत्र को

पिताजी ने साहित्य के एक अगाध पंडित से पढ़ाने की प्रार्थना की। बात कुछ बेतुकी-सी थी। जैसे प्रवेशिका के एक मूर्ख विद्यार्थी को व्याकरण पढ़ाने के लिए महामहोपाध्याय पं० शिवकुमार शास्त्री के पास भेजा जाय। बात यहीं तक होती तो कोई बात न थी। भट्टजी का स्वभाव 'वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि' वज्र से अधिक कठोर और फूल से अधिक सुकोमल था। ऐसा विचित्र समन्वय मैंने नहीं देखा। यदि बुद्धिमान् विद्यार्थी मिल जाय तो अपना गला काटकर उसपर न्योछावर कर दें। और यदि मूर्ख से पाला पड़े तो उसका गला काट लेने में उन्हें तनिक संकोच न हो। मोती की सी आब उतार लेना उनके बायें हाथ का काम था। यह गला काटना ही था। भट्टजी जब बिगड़ते थे तो नाक पर सुपाड़ी फोड़ते थे और जब अपने छात्र से प्रसन्न होते थे तो उनके वक्ष में वात्सल्य से दूध उतर आता था। उनके कोष में दोनों ही के लिए पर्याप्त शब्द थे। प्रसन्न होने पर 'क बे' बड़ा बाजपेयी है' 'निबहुरिया' इत्यादि का वे बड़े स्निग्ध भाव से प्रयोग करते थे। और यदि नाराज़ हुए (ऐसे समय भगवान् साहाय्य हों) तो 'खूसट' 'सिर में गोबर भरा है', 'गदहन का पुल टूटा' इत्यादि वाक्यों से छात्र का मज़ा किरकिरा कर देते थे। छात्र 'न गंगदत्तः पुनरेतिकूपम्' की आवृत्ति करने लगता था। ऐसे व्यक्ति के पास मैं पढ़ने के लिए भेजा गया। इसमें दोनों ही की खराबी थी। पिताजी के कारण न मैं उन्हें छोड़ सकता था और न वे मुझे छोड़ सकते थे।

'प्रथम ग्रासे मक्षिका पातः'। पहिले ही दिन जब मैं पढ़ने

के लिए उनके पास गया तो उन्होंने इस प्रकार मेरा अभिवादन किया—बोले, "कहाँ चलेव सरकार?" ध्वनि में कोई स्निग्धता न थी। मैंने कहा "पंडितजी ! पढ़ने के लिए पिताजी ने भेजा है।" कहने लगे "अच्छा हमरा करम भोग है, कुछ आवत जात है कि फजूल का हमरा सिर चटबो। हम हफ्ते में सिर्फ एक दिन पढौबै।" हमारा दिल बैठ गया। सोचा भगवानै पार करै। फिर थोड़ा स्निग्ध होकर बोले "भैया हम का करी, नौकरी करित हैं और फिर ई हिन्दी प्रदीप हमरे जिउ का पड़ी है, लेकिन 'सरकार' (हमारे पिताजी) की बात न टलबै, पर हफ्ते में हम एकै दिन पढ़ौबै। साफ कहे देइत है।"

किरातार्जुनीय से विद्यारम्भ हुआ। ज्यों-त्यों कर वह दिन बीता। 'जैसे हमारा दिन बहुरा वैसा सब का बहुरै।' बराबर बातों में लगाये रहा। पढ़ा कम, बात अधिक की। इसलिए उस दिन बिना भला-बुरा सुने काम चल गया। परन्तु मैं होशियार था, मुझे 'खूसट' सुनने का साहस न था, सजग हो गया। और फिर मेरे सामने एक हफ्ते का मैदान था। मैंने मेहनत करके आगे का पाठ पहिले ही खूब तैयार कर लिया। एक हफ्ते बाद जब मैं फिर उनके यहाँ गया तो बगुला भगत की तरह तख्त पर बैठ गया। थोड़ी देर बाद पढ़ाई आरम्भ हुई। मैं बिना प्रयास के श्लोकों का अर्थ समझने का नाट्य करता रहा। गुरुदेव की, ऐसा प्रतिभाशाली शिष्य पाकर, बाछें खिल गईं। बोले "क बे तोरी बुद्धि तो बड़ी प्रखर है ?" सरल स्वभाव भट्टजी को क्या मालूम था कि उनका शिष्य प्रतिभाशाली नहीं है, चाँई है। जितना घोंट कर गये थे यदि

उसके आगेवाला श्लोक पढ़ते तो प्रतिभा की क़लई खुल जाती। ख़ैर, वह दिन अच्छा बीता।

एक दिन गुरुदेव किरातार्जुनीय का यह श्लोक पढ़ा रहे थे। द्रौपदी की उक्ति है :—

भवादृशेषु प्रमदाजनोदितम्भवत्यधिक्षेप इवानुशासनम्।
तथापि वक्तुम् व्यवसाययन्ति मान्निरस्तनारीसमयादुराधयः।

जिसका भावार्थ यह था कि आप ऐसे विद्वानों को सलाह देना यद्यपि उपहसनीय है परन्तु हमारी मनोव्यथा हमें नारी सुलभ शालीनता को त्यागकर बोलने के लिए प्रेरित करती है। अर्थ सरल था और पूर्ववत् मेरा पहिले ही से खूब समझा हुआ था। फिर भी जान-बूझकर मैंने 'आधि' शब्द का अर्थ गुरुदेव से पूछा। आखिर कुछ पूछें भी तो। बोले "पुंस्याधिर्मानसी व्यथा" शरीर की व्यथा को 'व्याधि' कहते हैं और हृदय की व्यथा को 'आधि' कहते हैं। हमने पूछा "पंडितजी, कुफुत (कोफ्त) ?" करुणामिश्रित ईषत् हास्य से बोले "हाँ बे ओही कुफुत"। इस 'ओही' (वही) शब्द और भावभंगी से उन्होंने अपने जीवन भर की कुफुत को उँड़ेल दिया और हमारे इस उपयुक्त शब्द के प्रयोग करने से गद्गद हो गये।

इस 'प्रखर बुद्धिवाले' नुसख़े से मेरी उनकी पटरी खूब बैठ गई। और मैंने उनके हृदय में स्थान कर लिया। अध्ययन सुचारु रूप से चलने लगा। मुझे मेहनत तो बहुत पड़ती थी परन्तु इसका फल यह हुआ कि क्रमशः संस्कृत में मुझे रुचि होने लगी। अध्यापन के समय भट्टजी की ललित टीका-टिप्पणियों ने उसमें और चार चाँद लगा दिये। यद्यपि भट्टजी ने मुझे

सप्ताह में एक ही दिन पढ़ाने के लिए कहा था परन्तु अब मैं प्राय: प्रति दिन उनके यहाँ जाने लगा। सन्ध्या होते ही उनके यहाँ जाने के लिए लालायित हो उठता था। उनके यहाँ पहुँचकर उठने को जी नहीं करता था।

इसके पूर्व कि मैं और कुछ लिखूँ भट्टजी के कुल का थोड़ा सा इतिहास बता देना आवश्यक जान पड़ता है। भट्टजी महाराज का जन्म ३ जून १८४४ में मालवीय कुल में हुआ था। मालवीय लोग संवत् १५०६ में अपनी जन्मभूमि मालवा को किसी कारण-विशेष-वश छोड़कर संयुक्त-प्रान्त में बस गये थे। यह तिथि किसी ऐतिहासिक आधार पर अधिष्ठित नहीं है, परन्तु वंशपरम्परा से यह सुनते आये हैं कि मालवा के श्री गौड़ ब्राह्मणों के थोड़े से घरानों को "रस गगन तिथि प्रमाण वर्ष" राजकीय धार्मिक अत्याचारों से पीड़ित होकर अपना देश चुपके से छोड़ देना पड़ा। रस=६ गगन=० तिथि=१५ इस प्रकार तिथियों की वक्रागति होने के कारण सम्वत् १५०६ हुआ।

हमारे संस्मरण नायक भट्ट उपनामधारी शाण्डिल्य गोत्रीय थे। उनके पूर्वज मालवा से भागकर झाँसी से चालीस मील पूर्व, कसंबा ललितपुर के अन्तर्गत 'जिटकिरी' नामक ग्राम में बस गये थे। आज से लगभग १५० वर्ष पूर्व भट्टजी के पितामह पं० बिहारीलालजी भट्ट अपनी धर्मपत्नी श्रीमती गंगादेवी के साथ उस गाँव में रहते थे। यद्यपि बिहारीलालजी थोड़ा ही पढ़े-लिखे थे, परन्तु एक सरल-चित्त और ईश्वर-भक्त सद्गृहस्थ थे। पढ़ाई की कमी उनकी प्रतिभा ने पूरी कर दी थी और उस प्रान्त के लोगों को उनसे ही सलाह-मश्विरा लेने में सन्तोष

होता था। सहसा एक दिन ज्वर से उनका देहान्त हो गया और वे अपनी श्रीमती तथा अपने दोनों पुत्रों, बेनी और जानकी, को ईश्वर के भरोसे छोड़ चल बसे। गंगादेवी इस आकस्मिक वज्रपात से घबरा गईं। बना-बनाया खेल पलक मारते बिगड़ गया। कहावत है, 'खूंटे के बल बछवा नाचे' जब खूँटा ही उखड़ गया तब गंगादेवी अपना घर-बार बेच अपने मायके प्रयाग चली आईं। उनका मायका मिश्र परिवार में था जिसका व्यवसाय पूजा-पाठ एवं संस्कृत का अध्ययन-अध्यापन था। इस परिवार में संस्कृत के कई अच्छे पंडित हो चुके हैं। वातावरण सांस्कृतिक था। फिर भी उन्होंने अपने दोनों लड़कों को चौक में २॥≈) मासिक किराये की एक कोठरी लेकर एक छोटी सी दूकान करा दी। दूकान पर आटा और तेल बिकता था। ब्राह्मण के घर में बनियई का प्रवेश हुआ। क्रमशः वह दूकान एक अच्छी खासी पंसारी की दूकान हो गई। पसरहट्टे में बेनी-जानकी की दूकान की थाप थी। इस तरह धीरे-धीरे दिन बहुर चला। दोनों भाइयों की वेश-भूषा, रहन-सहन क्रमशः कुछ बनियों का सा हो गया। उनका मेल-जोल भी अपनी बिरादरी की अपेक्षा बनियों से ही अधिक था। फिर भी आखिर ब्राह्मण ही ठहरे। वह बात नहीं आ सकती थी। 'वाचिवीर्यं' और बनियई से बड़ा विरोध है। सम्भवतः उसी कारण दूकान में कोई खास बरकत नहीं थी। उस दूकान पर यदि कोई 'अहल बनिया' बैठता तो बात दूसरी ही होती। अहल बनिया और उसकी दूकान भी ईश्वर की इस सृष्टि में अपना सानी नहीं रखते। 'अहल बनिया' के Domestic Balance Sheet (गृहस्थी का आय-व्यय

का खाता) में आय और व्यय में 'क्व सूर्य प्रभवो वंशः क्व चाल्पविषया मतिः' का महत् अन्तर होना फ़र्ज़ है, यदि उस वर्ष परिवार में कोई विवाह काम-काज या तीर्थ-यात्रा न हुई हो। दुनिया के प्रपंच से उसका उतना ही सम्बन्ध रहता है जितना अकबर के शब्दों में 'अँग्रेज़ का है नेटिव से जिस क़दर ताल्लुक़।' परन्तु अपने व्यवसाय से उसका सम्बन्ध 'वागर्थाविव' रहता है अथवा जैसा शरीर का प्राण से। उसकी दूकान में इतने प्रकार की चीजें रहती हैं कि भानमती का पिटारा भक मारे। केसर से लेकर नौसादर तक, और चन्दन से लेकर गदहपुन्ना की जड़ तक उसकी दूकान पर रहती है। सम्भव है, पाणिनि के एक ही सूत्र में 'श्वानं युवानं मघवानम्' को देखकर उसने अपनी दूकान में हिन्दुस्तान और पाकिस्तान को एक शासन के अन्दर रखने का भगीरथ-प्रयत्न किया हो। इस वातावरण को कुछ विस्तार से उल्लेख करने का तात्पर्य यह है कि पं० बालकृष्ण भट्ट का शैशव इसी वातावरण में बीता। बेनीप्रसाद भट्ट के दो पुत्र थे—बड़े पं० बालकृष्ण भट्ट और छोटे पं० बालमुकुन्द भट्ट। बेनी-जानकी के मरने पर दुकान का भार इन दोनों भाइयों पर आ पड़ा। भट्टजी के सगे छोटे भाई पं० बालमुकुन्द भट्ट हमारे श्वसुर थे। दोनों भाइयों में थोड़ी ही छुटाई बड़ाई थी। परन्तु उनके दृष्टिकोणों में बहुत बड़ा अन्तर था। एक विद्वान् थे, दूसरे अपना हस्ताक्षर कठिनता से कर पाते थे। एक सरस्वती के उपासक थे, दूसरे लक्ष्मी के नाज़बरदारों में थे। घराने में सरस्वती का प्रवेश हुआ। लक्ष्मी की बनाई हुई इस दुर्भेद्य 'सेगफ्रिड लाइन' को भेदकर सरस्वती का घर में घुस आना भी

एक कमाल था। सरस्वती ने लक्ष्मी से कौड़ी-कौड़ी बदला चुका लिया। परन्तु लक्ष्मी की झनझनाहट और सरस्वती के मूक क्रन्दन से घर की बुनियाद हिल उठी। भले बुरे ढंग से चलते हुए घर में पाकिस्तान का झगड़ा छिड़ गया। ऐसा प्राय: देखा गया है कि गृहस्थी में जब एक भाई निखट्टू होता है या बहुत थोड़ा पैदा करता है और दूसरा मेहनत कर बहुत अधिक कमाता है तो आये दिन कोई न कोई मनमुटाव की बात खड़ी रहती है। भट्टजी का रवैया घराने की संस्कृति के हिसाब से गड़बड़ था। ये बेचारे सोचते थे कि

नीरक्षीरविवेके हंसालस्यं त्वमेव तनुषे चेत्।
विश्वस्मिन्नधुनान्य: कुलव्रतं पालयिष्यति क: ॥

अर्थात् हे हंस, यदि तुम्हीं दूध और पानी के समझने में प्रमाद करोगे तो तुम्हारे कुल की परिपाटी का और कौन पालन करेगा ?

भट्ट जी जिस समय संस्कृत वाङ्मय के पुष्पों पर मधुलोलुप भृंग की भाँति मँड़राते रहते थे उसी समय उनके छोटे भाई साहब अपनी दूकान पर आसन जमाकर अपना उल्लू सीधा किया करते थे। इसी तरह कुछ दिन गृहस्थी की गाड़ी चरमर करती चलती रही। परन्तु गृहस्थी में रोज की काँहिस और दाँता-किटकिट कितने दिन चल सकती थी। आखिरकार भट्टजी ने यह सोचकर कि

तुम कहां बैठ गये हज़रते-ज़ाहिद ! उट्ठो।
यह तो काबा नहीं दरवाज़ा है मयख़ाने का ॥

भगवान् दत्तात्रेय की तरह चील को गुरु मान, पैत्रिक

सम्पत्ति में अपने हिस्से को, जो कुछ थोड़ा-बहुत था, ठुकराकर छूंछे हाथ अलग हो गये। इनके नाना ने उसी मोहल्ले में एक छोटा-सा कच्चा-पक्का मकान ३००) रुपयों में खरीद दिया। उसमें बालबच्चों समेत बस गये। परिवार बड़ा और घर छोटा। पर लाचारी थी। घुसपुस कर निर्वाह करते रहे और जीवनपर्यंत उसी में रहे।

दूकान यथापूर्व चलती रही। उसपर छोटे भाई बैठते थे और उनकी देख-रेख में उसकी उत्तरोत्तर वृद्धि होती गई और थोड़े ही समय में वही आटा-दाल की दूकान 'माधोसहाय बालमुकुन्द' के नाम से नगर की प्रमुख केराने की दूकान हो गई। समय पाकर पं० बालमुकुन्द भट्ट लाखों की सम्पत्ति के मालिक हो गये। जिस स्थान पर उनके पितामह की २।ll=) मासिक किराये की दूकान थी वहाँ बहुत-सी जमीन खरीदकर उन्होंने लगभग एक लाख रुपया लगाकर एक विशाल कोठी बनवाई और उसके एक हिस्से में अपनी केराने की दूकान जमा दी। फिर क्या था! जन्मेजय का सा सर्पयज्ञ प्रारम्भ हो गया और धन की अनभ्र वृष्टि होने लगी। दीपावली पर जितनी बढ़िया रोशनी उनकी कोठी पर होती थी उतनी नगर के किसी भी रईस के यहाँ नहीं होती थी। कोठी के सामने दर्शकों की ठसाठस भीड़ लगी रहती थी। कोठी पर सैकड़ों बत्तियों के रंग-बिरंगे शीशे के झाड़ और फ़ानूस कोठी को जगमगा देते थे। उस समय बिजली न थी, मोमबत्तियों का उपयोग होता था। यद्यपि उस समय मैं बहुत छोटा था पर भीड़ में घुसकर तमाशा देखने और हुल्लड़ करने में समर्थ हो गया था। मुझे अच्छी

तरह याद है कि कमरे के भीतर एक कृत्रिम मयूर था जिसके पेट में चाभी भर दी जाती थी और वह अपने पंखों पर प्रज्वलित फ़ानूस लेकर कमरे के एक कोने से लेकर दूसरे कोने तक मंथर गति से बराबर चलता रहता था। स्थान-स्थान पर डंडा लिये हुए रक्षक नियुक्त थे। बहुत तरकीब करने पर भी मैं कोठी के भीतर घुसकर रोशनी न देख सका। रक्षक मुझे चिबिल्ला समझकर कोठी से दूर ही रखते थे। उन बेचारों को क्या मालूम था कि 'समय एव करोति बलाबलं' समय निर्बल को बलवान् कर देता है। वे कैसे जान सकते थे कि यही चिबिल्ला बालक एक दिन इसी कोठीपति का दामाद होगा और उसे घर के सब लोग हाथोंहाथ कोठी के भीतर ले जायँगे। खैर, लिखते-लिखते मैं थोड़ा बहक गया।

अपने श्वसुर के वैभव को थोड़े बिस्तार से लिखने का तात्पर्य यह है कि एक माँ के पेट से पैदा दो भाइयों की सांस्कृतिक एवं आर्थिक विषमता का ठीक-ठीक सन्तुलन किया जा सके।

इन्हीं दीपावली के महोत्सवों पर संस्मरण-नायक के परिवार में थोड़े से चिरागों को जलाने के लिए तेल खरीदना एक छोटी-मोटी समस्या हो जाती थी, और भट्टजी का स्वभाव देखते हुए यह सम्भव है कि गुरुदेव उस दिन दीवाली का मुँह फूकने के लिए तैयार हो जाते रहे हों। क्योंकि दीपावली तो प्रतिवर्ष आती है। जब मैं उनके यहाँ पढ़ने जाता था तब भी आती थी। ऐसे एक अवसर पर तेल के लिए पैसा माँगने पर उन्हें मैंने कहते सुना है "देवाली के मूड़े लगै आग। रोज सिर पर

खड़ी रहथी। कहाँसे पैसा लाई कि ओका मुँह फूँकी।" इससे पाठक न समझें कि दीपावली के दिन भट्टीजी के यहाँ कोहराम पड़ा रहता था। तनिक भी नहीं। बस केवल तेल के लिए अपनी गाढ़ी कमाई का पैसा अपनी संकुचित जेब से निकालते वक्त, थोड़ा-सा अपने दिल का गुबार निकाल कर त्योहार बड़े प्रेम से मनाते थे और लावा, पेड़ा, रेवड़ी इत्यादि को तन्मय होकर खाते हुए दीपावली के सौ खून माफ़ कर देते थे। आर्थिक कष्ट चाहे जो भी हो परन्तु भारतीय त्योहारों पर जो मानसिक सुख वे अनुभव करते थे वह उनके छोटे भाई के नसीब में न था। इनके छोटे भाई क्या, प्रायः जितने पूँजीपति हैं वे न तो सुख का स्वाद जानते हैं और न दुख का सन्ताप। आर्थिक लाभ से उन्हें सुख नहीं होता, केवल क्षणिक सन्तोष होता है। जैसे बरफ का पानी पीने के बाद पिपासा द्विगुणित बढ़ती है। भट्टजी यह श्लोक अक्सर पढ़ते थे और पढ़ते समय उनके चेहरे पर उक्ति के लिए स्नेह और लक्ष्मी के लिए तिरस्कार दोनों भाव स्पष्ट प्रकट होते थे।

> धनिनामर्थलाभोऽपि धनलोभो निरन्तरम्।
> पश्य कोटिद्वयोपेतं लक्षाय प्रणतन्धनुः॥

पूँजीपतियों को चाहे जितना भी धन का लाभ हो, धन का लोभ निरन्तर बना रहता है। धनुष ही को देखो उसके पास दो कोटि (श्लेष—करोड़ या किनारा) है पर लक्ष (श्लेष—लाख या निशाना) देखकर वह झुक जाता है।

पूँजीपतियों की दुनिया ही अलग होती है और वह अर्थ की संकुचित परिधि से घिरी होती है और पूँजीपति, स्पुतनिक की

तरह उसीमें चक्कर काटता रहता है। सरल स्वभाव, गरीब गृहस्थ की दुनिया उससे बिल्कुल भिन्न है। उसमें सुख ही सुख है सिवाय जबकि मेहनत-मशक़्क़त करने पर भी गृहस्थी की गाड़ी न चले। किसी कवि ने इस सुख का इस प्रकार चित्रण किया है—

टूटी खाट घर टपकत टटिऔ टूटि।
पिया कै बाँह सिरन्हिया सुख कै लूटि॥

'गगरी दाना सूत उताना' सूत से यहाँ तात्पर्य शूद्र से नहीं बल्कि मूर्तिमान गरीबी से है। गरीब खाने-पीने का तनिक भी सौकर्य होने पर खिल उठता है। यही हाल भट्टजी का था। भोजन वे हमेशा चाव से करते थे। भोजनोपरान्त उनकी गरीबी हवा हो जाती थी और संस्कृत वाङ्मय के रसास्वादन के बाद वे पूँजीपति हो जाते थे। कहते थे :

सत्कविरसना शूर्पी निस्तुषतरशब्दशालिपाकेन।
तृप्तो दयिताधर मपि नाद्रियते का सुधा दासी॥

सुकवि के जिह्वारूपी सूप से छिलका निकाले हुए शब्द-रूपी पके हुए चावल से तृप्त पुरुष प्रेयसी के अधर का आदर नहीं करते। सुधा की क्या गिनती, वह तो दासी है।

दो

गरीब भट्टजी अपने अमीर छोटे भाई से अलग हो गये। उनके जीवन का प्रथम काण्ड समाप्त हुआ और द्वितीय का आरम्भ हुआ। कहावत है 'भाँग भखन तो सहज है लहर कठिन पै होय'। अलग हो जाना तो सहल होता है परन्तु गृहस्थी की गाड़ी चलाना कठिन हो जाता है। आये दिन एक न एक बात खड़ी रहती है और इस 'उदर दरी दुरन्त पूरा' के भरते रहने पर भी एक न एक चीज खँगी ही रहती है। स्वर्गोपम गृहस्थी का मज़ा किरकिरा हो जाता है। भट्टजी के चार पुत्र और चार कन्याएँ थीं। जिस समय भट्टजी अपने छोटे भाई से अलग हुए थे उस समय उनके तीन पुत्र और तीन कन्याएँ हो चुकी थीं। कहने का तात्पर्य यह कि अलग होने के समय उनकी गृहस्थी और गरीबी दोनों ही भारी थीं। उनके चारों पुत्रों का नाम पं० मूलचन्द भट्ट, पं० महादेव भट्ट, पं० लक्ष्मीकान्त भट्ट और पं० जनार्दन भट्ट था। चारों पुत्र बड़े सरलचित्त और दयालु होते हुए भी बड़े उग्र स्वभाव के थे। ये गुण अथवा अवगुण, जो भी आप चाहें कहें, उनकी पैत्रिक सम्पत्ति थे।

सबसे ज्येष्ठ पुत्र, मूलचन्दजी पोस्ट ग्राफिस के दफ्तर में नौकर थे। तनखाह कम थी। अपनी गृहस्थी में चूर रहते थे और उसका आतंक उन पर ग़ालिब था। हिन्दी के सुलेखक थे। उनसे छोटे महादेवजी, साक्षात् दुर्वासा के अवतार थे। उनका आतंक गृहस्थी पर छाया रहता था। एक वार 'हिन्दी प्रदीप' के कुछ अंक मैंने उनसे लेकर अपने एक सम्भ्रांत सम्बन्धी को, जिनके पुत्र को मेरी पुत्री ब्याही थी, दे दिये थे। संयोगवश उनके यहाँ उन अंकों को दीमक चाट गई। यद्यपि वे अंक उस समय उपलब्ध थे पर जब महादेव जी ने सुना तो उनका तीसरा नेत्र खुल गया और मारे क्रोध के उबल पड़े। बोले, "उन्हें क्यों नहीं दीमक चाट गई ?" इतने छोटे-से शरीर में इतना क्रोध कैसे समा गया था, यही आश्चर्य है। महादेव जी अत्यन्त कृषकाय, नाटे कद, जन्म के रोगी, कॉलिक (शूल) के दर्द से निरन्तर व्यथित और थोड़ा भचक के चलते थे। सम्भव है बचपन में मारे क्रोध के छत पर से कूद पड़े हों। राजनीतिक मामलों में वे क्रान्तिकारी विचारों के थे। क्रान्तिकारी इनके यहाँ छिप कर ठहरते भी थे। एक बार कुछ अँगरेज़ अफसरों ने इनके घर की तलाशी भी ली, पर उन लोगों के घुसते ही उनकी स्त्री, छिपाने योग्य चीजें छिपा कर उस पर बैठ गई। तलाशी के वक्त आस-पास के घरवालों ने अपने अपने घरों के दर्वाजे बन्द कर लिये थे। बहुत देर तलाशी हुई पर कोई चीज मिली नहीं। यों साधारणतः वे सरल स्वभाव और हँसोड़ थे। नागरी प्रर्वाधनी सभा के अन्तर्गत उन दिनों जो नाटक हुआ करते थे उनमें पार्ट भी करते थे। हास्य का पार्ट वे सबसे

अच्छा करते थे। तृतीय पुत्र लक्ष्मीकान्तजी अपने ढंग के निराले थे। बैंक में नौकरी करते थे। बाद में व्यापार करने लगे। संगीत के अच्छे मर्मज्ञ थे। हारमोनियम और बाँसुरी बहुत अच्छी बजाते थे। बड़े मनस्वी थे। भट्ट शैली के सुयोग्य लेखक थे। व्यंगात्मक लेख लिखना उन्हीं का हिस्सा था। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि क्रोधी थे। जनार्दन जी भगवत कृपा से अभी जीवित हैं। आपने एम० ए० पास कर पुरातत्त्व का अध्ययन किया। पहिले गवर्नमेंट आफ़ इण्डिया के पुरातत्त्व विभाग में आपने नौकरी की और यदि थोड़ी सी बात पर उस नौकरी को लात न मार दी होती तो आज दिन सम्भवत: डायरेक्टर जेनरल आफ़ आरकेओलॉजी के पद पर होते। 'सर्वान् गुणान् परित्यज्य स्वभावो मूर्ध्निवर्तते' लाचारी थी। थोड़े दिनों बाद मथुरा म्यूज़ियम में संग्रहाध्यक्ष की जगह खाली हुई। एक तो पुरातत्त्व का विषय प्रिय था, दूसरे यद्यपि वह नौकरी उनकी योग्यता से बहुत नीची थी किन्तु सोचा 'शाकाय वा स्यात् लवणाय वा स्यात्।' जनार्दनजी ने उसके लिए आवेदन-पत्र दे दिया। शिक्षा-विभाग के मंत्री मेरे मित्र थे। मैंने उस मिसिल को आद्योपान्त देखा है। उस समय अँग्रेजों का शासन-काल था। मथुरा के कमिश्नर ने, जो मथुरा म्यूज़ियम के चेयरमैन भी थे, प्रयाग के कमिश्नर से जनार्दनजी के बारे में रिपोर्ट माँगी। यहाँ के कमिश्नर ने जो रिपोर्ट दी वह मुझे अक्षरशः याद है। उसका अविकल अनुवाद मैं यहाँ दे रहा हूँ: "मैंने स्थानीय पुलिस से जाँच की। पं० जनार्दन भट्ट के विरुद्ध कोई व्यक्तिगत बात नहीं है। परन्तु उनके बड़े भाई

पं० महादेव भट्ट Revolutionary Suspect Class A (संदिग्ध क्रान्तिकारी नं० १) हैं। पं० जनार्दन भट्ट के दूसरे बड़े भाई पं० लक्ष्मीकान्त भट्ट की एक लड़की पं० गोविन्द मालवीय को, जो पं० मदनमोहन मालवीय के पुत्र हैं, ब्याही है और ये दोनों व्यक्ति इस समय जेल में हैं। मेरी राय में सरकारी नौकरी उसको देनी चाहिए जिसने सरकार के लिए कुछ काम किया हो। इस कारण मैं पं० जनार्दन भट्ट की सिफ़ारिश नहीं कर सकता।" परिणाम यह हुआ कि जनार्दनजी को वह नौकरी नहीं मिली। जनार्दन जी को कोई विशेष क्षति नहीं हुई, परन्तु शासन के हाथ से एक हीरा जाता रहा क्योंकि जनार्दन जी एक ऊँचे दर्जे के ईमानदार, विद्वान् और सच्चरित्रता के निकष (कसौटी) हैं। हाँ, क्रोधी भयंकर हैं।

"सोते हुए उसको जगाना एक वीरता थी।
जागे हुए उसको सुलाना एक काम था॥"

समय पाकर और बहुत कुछ दुनिया देखकर उनमें अब गांभीर्य तो अवश्य आ गया है, फिर भी 'अन्तः प्रसुप्त दहनः ज्वलन्निव वनस्पतिः।' शमी वृक्ष की तरह भीतर-भीतर अग्नि छिपी रहती है जो कुरेदने से दहक उठती है। अब वे स्थायी रूप से दिल्ली में बस गये हैं। सेठ जुगल किशोर बिड़लाजी के विश्वास एवं स्नेहपात्र हैं। सेठ जी ने अपनी संस्था 'अखिल भारतवर्षीय आर्य (हिन्दू) धर्म सेवा संघ' के संचालन का पूर्ण भार जनार्दन जी को सौंप दिया है। जनार्दनजी हिन्दी के सुयोग्य लेखक हैं और पुरातत्त्व पर उन्होंने कई एक पुस्तकें भी लिखी हैं, जिनका पुरातत्त्व संसार में आदर है।

यह अतिशयोक्ति न होगी यदि मैं कहूँ कि क्या राजनीतिक, क्या सामाजिक और क्या धार्मिक सभी विषयों में पं० बालकृष्ण भट्टजी का सम्पूर्ण परिवार एक क्रान्तिकारी परिवार था। रूढ़ि का कट्टर द्वेषी ! इसके कारण परिवार को बहुत कुछ क्लेश और कठिनाइयाँ झेलनी पड़ीं। परन्तु उसका तो सिद्धान्त था :—

'बैर प्रीत करिबे की मन में न राखैं शंक,
राजा राव देखिकै न छाती धाकधा करी।
आपने उमंग के निवाहिबे की चाह जिन्हें
एक सों दिखात तिन्हें बाघ और बाकरी।
'ठाकुर' कहत मैं विचार कई बार देख्यों
यही मरदानन की टेक बात आकरी।
गही तौन गही, बात छांड़ी तौन छांड़ि दई,
करी तौन करी बात ना करी सो ना करी।।

थोड़ा विषयान्तर तो हो गया परन्तु भट्टजी के परिवार के लोगों का उल्लेख कुछ विस्तार से इस कारण किया कि ऐसे मनस्वी व्यक्तियों के बीच में रहते हुए अपनी गृहस्थी की जर्जरित नौका को खे ले जाना और साथ-साथ हिन्दी की सेवा भी करते जाना एक कमाल था।

एक बार कई दिन मैं भट्टजी से पढ़ने नहीं गया था। मैं जानता था कि इसपर वे भुन्नाये होंगे क्योंकि संस्कृत में मैं कुछ तेज़ हो गया था और मुझे पढ़ाने में उन्हें आनन्द होता था। उस दिन जैसे ही मैंने सीढ़ी पर क़दम रक्खा तो देखा कि भट्टजी अपने पुत्र महादेव पर बिगड़ रहे हैं। उस दिन महादेवजी को कॉलिक (शूल) का बड़े ज़ोर का दौरा हुआ था।

पहिले तो दर्द थोड़ा ही था, पर महादेवजी ने बहुत सा दही-मीठा खा लिया था। महादेवजी बड़े चटोरे थे। दही खाने से दर्द असह्य हो गया और वे चारपाई पर छटपटाने लगे। उनकी चारपाई के पास एक तख़्त था जिसपर भट्टजी सदा बैठते थे। इस तख़्त का ज़िक्र आगे करूँगा। उनके कराहने पर भट्टजी भभक उठे। उसी समय मैं वहाँ पहुँचा था। गुस्सा कराहने पर नहीं था बल्कि दही खाने पर। कड़ककर बोले "जब दर्द शुरू होय गवा रहा तो फिर दही काहे खायेव ?" महादेवजी मारे गुस्से के चारपाई पर बैठ गये और उतने ही तीव्र स्वर से बोले "हमरा मन रहा, एसे खावा और फिर खाबै !" मैंने देखा कि बात बढ़ रही है, पर करता ही क्या ? कमरे के भीतर आ ही चुका था और तख़्त पर बैठ चुका था, नहीं तो चुपके से सरक जाता। भट्टजी ने मुझे नहीं देखा क्योंकि उनकी पीठ मेरी तरफ थी। महादेवजी ने हमको देखा क्योंकि वे मेरी तरफ मुँह किये हुए थे। मेरे आने से उनके वाक्युद्ध की प्रगति में कोई अन्तर नहीं पड़ा। बोले "हम सौ दफे दही खाबै, तुम्हें का करैंका है ? मरवै तो हम न मरबै ?" भट्टजी बोले "पहिलैं हम मरबै।" महादेवजी ने उतने ही ऊँचे स्वर से कहा "पहले हम मरबै।" इस 'पहिले हम मरबै' की पुनरावृत्ति थोड़ी देर होती रही। आखिरकार जब यह तय न हो पाया कि पहिले कौन मरेगा, द्वंद्व युद्ध स्थगित हो गया। मुझे काटो तो खून नहीं। सकपकाया हुआ तख़्त के कोने में सात मूठी का एक मूठी बना बैठा रहा। भट्टजी ने पीठ फेरी तो मैं सामने पड़ गया। 'धोबी से न जीते तो गदहे का कान उमेठै।' मुझी पर उबल

पड़े। उस समय भट्टजी का वक्षस्थल वाक्युद्ध के परिश्रम से लाल और नेत्र रक्त वर्ण थे। बड़ी रुखाई से बोले "कहाँ चलेव सरकार ?" इस प्रश्न में मेरे कई दिन न आने का गुबार भरा हुआ था। मैंने बड़ी विनम्रता से कहा कि पढ़ने आये हैं। मेरा कहना था कि बड़े तीव्र स्वर में बोले "तुम क्या पढ़ोगे जी ? बेवक़ूफ बनाने आते हो। इम्तेहान लेत हौ कि एका कुछ आवत जात है कि नाहीं।" इतना कहकर चुप हो गये और बग़ल की अलमारी से पान निकाल कर बनाने लगे। मैंने भी इस अवसर पर चुप रहने ही में अपनी खैरियत समझी। पान खाकर वे फिर मेरी तरफ मुखातिब हुए। पान खाने से उनका पारा उतर गया था। पान के बड़े शौकीन थे। उनका पान बड़ा सुस्वादु होता था। पान में एक टुकड़ा बादाम का भी डालते थे। बड़ी मुश्किल से अपना पान किसी को देते थे। और यदि गलती से किसी ऐसे को दे गये जो तमाखू नहीं खाता था तो उसीके मुँह पर कह देते थे कि उनका पान अकारथ गया। अस्तु। पान खाते ही उनका गुस्सा उतर गया था। मुझसे मृदुस्वर से बोले "भैया, हम तुमसे बहुत गुस्सा होय गये तुम बुरा माने होबो।" हमने कहा "नहीं पण्डितजी, हमने तनिक भी बुरा नहीं माना।" जैसे उन्हें बड़ा पश्चात्ताप हो रहा हो। फिर बोले "नहीं तुम जरूर बुरा माने होबो, हम तुमरे ऊपर बहुत गुस्सा होय गये रहे।" हमारे फिर आश्वासन देने पर कि हमने बुरा नहीं माना, मालूम नहीं किस भावना ने उन्हें कुरेदा कि एकदम बड़ी रुखाई से कहने लगे "बुरा माने होबो तो हमरे ठेंगे से। जो देत हो सो न दिहो। चलौ पढ़ौ।" अभिज्ञान-

शाकुन्तल का पढ़ना आरम्भ हुआ और थोड़ी ही देर में गुरुदेव तन्मय होकर पढ़ाने लगे। 'एक तो बुढ़िया नचनी रही, दूसरे उसके नाती हुआ।' एक तो भट्टजी ऐसे सहृदय एवं साहित्य रसलोलुप और दूसरे शाकुन्तल ऐसा नाटक पढ़ाने को मिला। एक घंटा कब गुजर गया पता न चला। महादेवजी पूर्ववत् चारपाई पर कराहते रहे। यह संस्मरण वास्तव में रेडियो अथवा उससे भी अधिक, रंगमंच के उपयुक्त है, क्योंकि संस्मरण नायक की भ्रू भंगी, क्रोधयुक्त वाणी का उतार-चढ़ाव जो भट्टजी की एक विशेषता थी, लेख में अदा नहीं हो सकते।

भट्टजी एक सरल-चित्त, धर्मनिष्ठ ब्राह्मण थे। ईश्वर-भक्त थे। परन्तु रूढ़ि से, केवल इसलिए कि वह परम्परागत है, उन्हें कुढ़न होती थी। प्रतिदिन सूर्योदय के बहुत पहिले उठ, स्नानादिक से निवृत्त होकर सूर्य के निकलते ही उन्हें अर्घ्य देते और सन्ध्योपासन करते थे। दोपहर में अर्घ्य देने को निकम्मी बात समझते थे। कहते थे कि जब अतिथि आता है तब अर्घ्य दिया जाता है। बाद में किसी भी वक्त देना काम टरकाना है। गर्मी के दिनों में तो सूर्योदय के पूर्व स्नान कर लेना उनके लिए सुगम था, परन्तु जाड़े में उस समय नहाना उनके बूते की बात न थी। एक दिन कहने लगे "भैया, जाड़े में इतने तड़के हमसे नहावा नहीं जाता। हमतो 'आपोहिष्टा' (स्नान का मंत्र) से स्नान करके सूर्य का अर्घ्य देइत है और फिर दिन चढ़े ठीक से नहाय के तब सन्ध्या करित हैं। चाहे ठीक होय चाहे गलत, जिउ थौड़ै देय का है।" उन दिनों प्रत्येक ब्राह्मण गृहस्थ के यहाँ ठाकुरजी का स्थान होता था। उस स्थान पर ठाकुरजी

सिंहासन पर विराजमान रहते थे। कभी-कभी उनकी संख्या बहुत बढ़ जाती थी—विशेषकर जब स्त्रियाँ पूजा करनेवाली होती थीं। इस सम्पूर्ण ठाकुर परिवार में कोई चातुर्वर्ण्य भेद तो था नहीं, इसलिए इनके विधिवत् पूजन करने में बड़ी देर लगती थी। आजकल हवा बिलकुल बदल गई है। बहुत से नई रोशनी के ब्राह्मण गृहस्थों के घर में ठाकुरजी का अब नामोनिशान भी नहीं रह गया। रहन-सहन, वेष-भूषा, बिलकुल बदल गई है।

मुरीदे-दहर हुए वज़ा मग़रबी कर ली।
नये जनम की तमन्ना में खुदकुशी कर ली॥

भट्टजी के घर में उस समय प्राचीन पद्धति की स्त्रियाँ थीं। लड़के भी नई रोशनी से कोसों दूर थे। पर ठाकुरजी की पूजा प्रायः स्त्रियाँ ही करती थीं। गरमी के दिन थे। भट्टजी दोपहर से पहिले कायस्थ पाठशाला से लौटे थे। भूख ज़ोर से लगी थी। कपड़ा उतारकर जनेऊ से पीठ खुजलाते हुए बड़ी स्निग्धता से बोले "मुनिया (लक्ष्मीकान्तजी का प्यार का नाम) भैया! चिटका (पहिनकर भोजन करने का रेशमी वस्त्र) दै देव। भोजन कर लेई। बड़ी भूख लगी है।" मुनिया बोले "ताऊ, (भट्टजी को ताऊ कहते थे) ठाकुरजी की अबहिन पूजा नहीं भई।" सुनना था कि भट्टजी का पारा चढ़ गया। बोले, "ठाकुर के मूँड़े लगै आग! अच्छा करमभोग है! तुलसा (उनकी बहिन का नाम) अच्छा झौवा भर पाल गई हैं। लाओ सबन का मुँह फूँकी।" अस्तु पूजा करने बैठ गये और भुनभुनाते जाते थे परन्तु विधिवत् पूजा करते जाते थे। ठाकुरजी के

सिंहासन में एक पीतल की राधिकाजी थीं। ज़रा लम्बी थीं। कपड़ा पहिनाते वक्त वे लुढ़क गईं। झुनझुनाते हुए उन्हें खड़ा किया। फिर लुढ़क गईं। भट्टजी उबल पड़े। ज़ोर से बोले "लँगड़ो! खड़ी होबो कि उठाय के पटक देई?" 'बुभुक्षित: किन्न करोति पापम्' झनक पटक कर पूजा समाप्त हुई। ठाकुरजी का भोग लगाकर स्वयं भोजन करने बैठ गये। चटोरे तो थे ही, बड़े चाव से भोजन किया। सब क्रोध शान्त हो गया। इस प्रकार दिन भर में प्राय: कई बार पारा न्यूनाधिक उतरता चढ़ता रहता था। इतना अवश्य है कि जल्द चढ़ता था और जल्द ही उतर जाता था। मन में किसी के प्रति किसी प्रकार का विकार नहीं रहता था।

भट्टजी को दूध का बड़ा शौक था। उन्होंने एक गाय पाल रक्खी थी। कुड़मुड़ा कर उसके सब नखरे बर्दाश्त करते थे। जब भी हरी घास मिलती थी गाय के लिए अवश्य लेते थे। एक दिन 'हस्ब-मामूल' अपने तख्त पर बैठे थे कि एक घासवाली सामने गली में जाती दिखलाई पड़ी। ज़ोर से पुकारा "ओ घासवाली! केतने को घास देबे?" बोली "बाबा, तीन पैसा की।" 'बाबा' का सम्बोधन सुनते ही कुढ़ गये। मालूम नहीं क्यों बूढ़े लोग प्राय: बाबा के नाम से चिढ़ते हैं। साहित्यिक लोग तो प्राय: सभी 'बाबा' के सम्बोधन से कुढ़ जाते हैं। सम्भव है इसी कारण भट्टजी कुढ़ गये हों। बहरहाल उन्होंने उस खून के घँट को पी डाला। बोले "दुइ पैसा की देबे।" घासवाली बोली "अच्छा लैलेव बाबा।" सुनते ही भट्टजी बिगड़ गये, बोले "निबहुरिया एकै दफे में काहे मान गई। देखी

ठग तो नहीं लिहिस ?" पता नहीं यह गुस्सा 'बाबा' का ख़मियाज़ा था या और कुछ। बहरहाल सौदा पट गया।

एक दिन की बात है भट्टजी अपने पुत्र लक्ष्मीकान्त से कहने लगे "मुनियाँ, कोई कहत रहा कि तुम सिगरेट पियत हौ।" मुनिया बोले "हाँ ताऊ, बड़ी बढ़िया होथी।" भट्टजी बोले "सरम नहीं मालुम होती ?" मुनिया बोले "ताऊ, सचमुच बहुतै बढ़िया होथी। पियौ तो मालुम होय।" उनके कहने का ढंग कुछ ऐसा था जैसे—

> लुत्फ मै तुझसे क्या कहूँ ज़ाहिद !
> हाय कम्बख़्त ! तूने पी ही नहीं !

भट्टजी बोले "लाओ, देखी कैसी होथी ?" मुनियाँ ने एक सिगरेट जलाकर भट्टजी के मुँह में लगा दी। भट्टजी बोले "अब का करी ?" मुनिया ने कहा कि "ताऊ, अब एका धुआँ खींचो।" भट्टजी ने वैसा ही किया। धुआँ खींचकर पी गये। लगे खाँसने। मुँह से सिगरेट निकालकर फेंक दी। बोले "तैं राच्छस है का जो पियत है ?" मुनिया ने कहा कि "ताऊ, धुआँ नहीं पिया जाता। ओका नाक से निकाल देयका चाही। दूसरी सिगरेट जलाई ?" भट्टजी बोले "भवा भवा, रहैं देव।" बात यहीं पर खतम हो गई। आगे नहीं बढ़ी। पाठक स्वयं अनुमान कर लें कि भट्टजी इन बातों को क्या महत्त्व देते थे।

सन् १९०० के पहिले की बात है। भट्टजी अपने छोटे भाई से अलग हो चुके थे और अपने नये मकान में आ गये थे। ठीक याद नहीं, शायद शिवराखन स्कूल में थोड़ी तनख़्वाह

पर संस्कृत के अध्यापक थे। 'हिन्दी प्रदीप' इनकी जान को तो पड़ी ही थी। गृहस्थी चलाना दूभर हो रहा था। 'दाग़' का एक शे'र चस्पाँ होता है। कहता हूँ।

> कहीं दुनिया में नहीं इसका ठिकाना ऐ 'दाग़,'
> छोड़कर मुझको कहाँ जाय मुसीबत मेरी ?

भट्टजी के अनन्य मित्र थे मुंशी रामप्रसाद। ये शहर के बहुत बड़े रईस और सरकारी वकील थे। वकालत में उनकी तूती बोलती थी। बड़े प्रतिभाशाली थे। भट्टजी की गरीबी उनसे सहन न हो सकी। एक दिन भट्टजी से उन्होंने कहा "भट्टजी, वकालतनामा पर और जो अर्जी दावा मैं बना दूँ उस पर आप महज दस्तखत कर दें। मैं खानदान मुश्तरका की बिना पर आपके भाई से आधा हिस्सा बटवा लूँगा। आपका दुख दूर हो जायगा।" छोटे भाई की हैसियत उस वक्त आठ-दस लाख से कम की नहीं थी। भट्टजी ने उन्हें उत्तर दिया, "हम दसकत न करबै। ओ ही तो मर-मर के सब पैदा किहिस है। हम का किहा है। हम तो एही संस्कृत के डंडागोपाली में पड़े रहे। हम दसकत न करबै।" मुंशीजी बोले :

"Panditjee, inspite of your scholastic learning I can unhesitatingly say that you are a regular idiot."

'पण्डित जी, आपकी विद्वत्ता के बावजूद मैं निस्संकोच कह सकता हूँ कि आप निरे मूर्ख हैं।' शायद मुंशीजी को 'दाग़' का यह शे'र याद आ गया हो :—

एक नजूमी 'दाग़' से कहता रहा,
तेरी क़िस्मत है बुरी, हम क्या करें ?

भट्टजी इस घटना को प्राय: सुनाया करते और हँसकर अँगरेजी का वाक्य दुहराया करते थे। बहुत दिनों बाद उन्होंने हमें भी बतलाया और कहने लगे "भैया, हम छोटे भाई का धन अन्याय से नहीं लिया चाहते तो हमें इडियट कहत हैं। अच्छा हम इडियटै सही। हमें अइसा धन न चाही।" त्याग की पराकाष्ठा थी। इतने पर भी दोनों भाइयों में मेल-मुरौवत बनी रही। जब भी पान के लिए सुपाड़ी की जरूरत होती थी तो अपने भाई की दूकान से खरीदते थे और चार-पाँच सुपाड़ी चुपके से निकाल कर अपनी पुड़िया में मिला देते थे। कहते थे, "भाइयै की तो है। मिलाय लिया तो का बेजा किया ?" इसी तरह उनकी गृहस्थी की गाड़ी चररमरर करती चलती रही।

तीन

पण्डित बालकृष्ण भट्ट अपने छोटे भाई पं० बालमुकुन्द भट्ट से अलग होने पर अपने जीर्ण मकान में आकर रहने लगे। इस मकान को उनके नाना ने ३००) का खरीद दिया था। भट्ट जी की गृहस्थी भारी थी। पति, पत्नी, तीन लड़के और तीन लड़कियाँ। पास में पैसा न था। कोई नौकरी भी नहीं थी। लड़कों का लालन-पालन, पठन-पाठन एक समस्या थी। भट्टजी को गरीबी से मोर्चा लेना पड़ा। गृहस्थी का पालन तो किसी न किसी तरह करना ही था। किसी से सहायता लेना पसन्द न था। ऐसी परिस्थिति में जिन कठिनाइयों का सामना उन्हें करना पड़ा और जो दुख उन्हें भोगने पड़े उन्हें एक स्वाभिमानी गरीब ही जान सकता है। इस घर में आने के बाद उन्हें एक पुत्र और हुआ। क्रमशः लड़के बड़े होने लगे। लड़कों का नाम था पं० मूलचन्द भट्ट, पं० महादेव भट्ट, पं० लक्ष्मी कान्त भट्ट और पं० जनार्दन भट्ट। इन लड़कों का भी परिवार बढ़ने लगा। उस अनुपात से आय में कोई विशेष वृद्धि नहीं हुई। परिणाम स्पष्ट है। आये-दिन एक न एक समस्या खड़ी रहती थी।

भट्टजी के अनन्य मित्र मुंशी रामप्रसाद, जो उस समय वकीलों में सबसे योग्य समझे जाते थे, ने भट्टजी को बहुत समझाया कि वे केवल वकालतनामा पर हस्ताक्षर कर दें बाकी मुंशीजी सब कर लेंगे और संयुक्त परिवार के आधार पर वे उनके छोटे भाई की सम्पत्ति में से आधा जो लगभग पाँच लाख रुपया होता था बटवा लेंगे। साधारण मनुष्य इस प्रलोभन से कभी का डिग गया होता परन्तु भट्टजी ने अपने मित्र के सुझाव को इसलिए अस्वीकार कर दिया कि उस रुपये के पैदा करने में उनका कोई हाथ नहीं था। इसपर मुंशीजी ने भट्टजी को idiot सिड़ी कहा था। मुंशीजी उनके अनन्य मित्र और शुभेच्छु थे। भला-बुरा सब कुछ कह सकते थे। परन्तु भट्टजी भला कब डिगने वाले थे।

> निन्दन्तु नीतिनिपुणाः यदि वा स्तुवन्तु
> लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम्।
> अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा
> न्याय्यात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः॥

नीति-कुशल चाहे निन्दा करें अथवा स्तुति, लक्ष्मी चाहे आवें चाहे जाँय, आज मरना हो या युगान्तर में, परन्तु धीर पुरुष न्याय के पथ से कभी विचलित नहीं होते। बेचारे वकील साहब भट्टजी की अन्तरात्मा की इस नोक-झोंक को भला क्या समझ सकते थे। विक्टर ह्यूगो (Victor Hugo) का कहना है:

"There is one spectacle grander that the sea, it is the sky, there is one spectacle grander than the sky, it is the interior of a soul"

जिसका तात्पर्य है 'एक दृश्य समुद्र से अधिक विशाल है, वह है आकाश, एक दृश्य आकाश से भी अधिक विशाल है, वह है आत्मा का अन्तस्तल।'

जिस प्रकार नकुल, झाड़ी के भीतर प्रच्छन्न पत्ती सूंघकर विषधर सर्प से युद्ध करता है उसी प्रकार भट्टजी अपनी शुद्ध अन्तरात्मा से प्रेरणा लेकर गरीबी से मोर्चा लेते थे। जिस प्रकार एक पति-परायणा सती कुलवधू दुराचारियों से अपना दामन पाक रखती है उसी प्रकार प्रलोभनों से अविचलित वे अपने स्वाभिमान की रक्षा करते थे। जैसे कहते हों—

एक हमी हैं जो बहक जाते हैं तोबा की तरफ;
वर्नः रिन्दों में बुरा चालचलन किसका था ?

जिस समय भट्टजी अपने छोटे भाई से अलग हुए थे उस समय बिलकुल बेकारी की हालत में थे। जैसे किसी तैरना न जानने वाले आदमी को नाव पर से बीच नदी में फेक दिया जाय। होनहार, हाथ पाँव चलाकर उतरा उठता है, डरपोक जल में निमग्न हो जाता है। 'सिद्धस्य गतिश्चिन्तनीया' जीवन का कोई साधन न था परन्तु जब गृहस्थी गले पड़ गई तो जीविकोपार्जन तो करना ही था। भट्टजी के कुछ शुभचिन्तकों ने उन्हें कलकत्ते से स्टेशनरी का सामान लाकर प्रयाग में बेचने की सलाह दी। 'मरता क्या न करता ?' दो बार कलकत्ते गये भी और वहाँ से सामान लाकर मित्रों में बेचा करते थे। परन्तु व्यापार बुद्धि तो उनमें थी नहीं। परिणाम यह हुआ कि थोड़े ही समय में सारी लागत मुनाफा हो गई और गृहस्थी के 'उदर-दरी' में समा गई। फिर कुछ दिन भट्टजी गुर्च का

सत्तू निकालकर बेचा करते थे। परन्तु गुर्च के कूटने छानने में उन्हें बड़ा परिश्रम पड़ता था, इसलिए थक जाते थे। फिर थोड़ा सुस्ताने के बाद फिर वही काम आरम्भ कर देते थे। भट्टजी को फलित ज्योतिष का भी बड़ा शौक था। कुंडली अच्छी देखते थे। इस प्रकार ज्योतिष, गुर्च का सत्त और स्टेशनरी की बिक्री, ये तीनों मिलकर कुछ दिनों भले-बुरे इन्हें सहारा देते रहे, परन्तु—

गोशये-मसजिद में कारे-शेख़ अब चलता नहीं।
पेट गो तसकीन पा जाये मगर तनता नहीं॥
—अकबर

इस प्रकार गृहस्थी का पालन करते चार वर्ष बीत गये परन्तु

हेम्नः संलक्ष्यते ह्यग्नौ विशुद्धिः श्यामिकाऽपि वा।

सोना वटर है या टलहा यह तो आग में तपाने ही से पता चलता है। विधि को जब देवता या दानव बनाना होता है तो मनुष्य को वह गरीबी की घरिया में छोड़ देता है। दानव तो सरल में बन जाता है क्योंकि संसार प्रलोभनों और बहकाने वालों से भरा पड़ा है। 'दारिद्र्य दोषो गुण राशिनाशी' होता है। मनुष्य थोड़े ही में फिसल जाता है और ऐसे-ऐसे घृणित कर्म करने लगता है कि दानव भी लज्जित हो जाय। परन्तु मनुष्य इन प्रलोभनों से अपना दामन बचाकर इस गरीबी की घरिया में तपा हुआ कुछ ऐसा निकलता है जैसे—

शाणोत्कीर्णो मणिरिव घनाम्भोदमुक्तो विवस्वान्
निःकोशोऽसिः, झटिति विगलत्कञ्चुकः पन्नगेन्द्रः।
—भवभूतिः

जैसे—

"खराद से उतरा हुआ चमचमाता हीरा या बादलों से मुक्त सूर्य, अथवा मियान से निकली हुई लपलपाती तलवार या केचुल से निकला सर्पराज।"

ऐसे तपे हुए सुवर्ण में कल्मष भला आ ही कहाँ सकता है? इस प्रकार की गरीबी झेलकर गृहस्थी का पालन करते चार वर्ष बीत गए। भट्टजी का उसूल था :—

दिल हमारा जज़्बये-ग़ैरत को खो सकता नहीं।
हम किसीके सामने झुक जांय, हो सकता नहीं॥
राहे-ख़ुद्दारी से मर कर भी भटक सकते नहीं।
टूट तो सकते हैं, हम, लेकिन लचक सकते नहीं॥
— जोश

इसी समय भट्टजी के एक मित्र और हितैषी पण्डित शिवराखन शुक्ल जो इलाहाबाद में शिवराखन पाठशाला (अब सी० ए० वी० इन्टरमीडियट कालेज) के संस्थापक थे, भट्टजी के पास आए और उपर्युक्त पाठशाला में हेड पण्डित का पद स्वीकार करने के लिए प्रार्थना की। भट्टजी पहिले तो हिचकिचाये पर अपने परम मित्र डाक्टर जयकृष्ण व्यास (लेखक के पिता) तथा अपनी धर्मपत्नी के विशेष आग्रह पर तैयार हो गये। भट्टजी ने उस संस्था में कुछ ही दिनों काम किया। इसी समय भट्टजी के मित्र मुंशी रामप्रसाद वकील ने, जिनका ज़िक्र मैं ऊपर कर चुका हूँ और जो स्थानीय कायस्थ पाठशाला के सभापति थे, भट्टजी से पाठशाला में संस्कृत के प्रधानाध्यापक का पद ग्रहण करने का आग्रह किया जिसे भट्ट जी ने सहर्ष स्वीकार कर लिया। यह बात अनुमान से सन्

१८८५ की है। कायस्थ पाठशाला में जब कालेज की कक्षाएँ खुलीं तो भट्टजी उसमें संस्कृत के प्रोफेसर नियुक्त हुए। इस पद पर भट्टजी लगभग सन् १९०८ तक रहे। कायस्थ पाठशाला से उनका क्यों सम्बन्ध-विच्छेद हुआ उसे भट्टजी के राजनीतिक जीवन के अध्याय में कहूँगा।

कायस्थ पाठशाला में जब वे अध्यापक थे तब मैं वहाँ छात्र था। मैंने सन् १९०३ में एन्ट्रेंस की परीक्षा पास की थी। उस समय स्कूल की कक्षाओं की वक्रागति होती थी। सब से नीचे दर्जे को दसवाँ दर्जा कहते थे। मैंने दसवें दर्जे से लेकर दूसरे दर्जे तक कायस्थ पाठशाला ही में शिक्षा पायी। एन्ट्रेंस मैंने सी० ए० वी० स्कूल से पास किया था। जिस समय दूसरे दर्जे में पढ़ता था, भट्टजी क्लास में संस्कृत पढ़ाते थे। एक दिन की बात है। वे संस्कृत पढ़ा रहे थे। स्कूल का आखिरी घंटा था। सब छात्र घर जाने के लिए उतावले हो रहे थे और कुछ शोर-गुल कर रहे थे। भट्टजी ने डाँटा-डपटा पर कुछ असर न हुआ। थोड़े ही में तो उनका पारा चढ़ जाता था। जाकर उन्होंने हेड मास्टर से शिकायत की। मुंशी ज्वालाप्रसादजी उस समय हेडमास्टर थे। क्लास में आकर उन्होंने लड़कों को डाँटा और यह सजा दी कि उस दिन लड़कों को आधा घंटा और पढ़ना पड़ेगा। हम सब लोग सन्नाटे में आ गये। घंटा समाप्त होने पर भट्टजी को ख्याल आया कि अभी तो सजा वाला आध घंटा और बैठना है। वे तुरन्त उठ खड़े हुए और हेड मास्टर के पास जाकर बोले "ई लड़कन की का सजा भई। हमरी सजा भई, हम न बैठबै, हम जाइत है।"

मुंशी ज्वालाप्रसाद जी भट्टजी के स्वभाव से परिचित थे और उनका आदर करते थे। 'दुधार गाय की दो लात' सह लेते थे। बोले "भट्टजी आप जाइए, हम बैठेंगे।" भट्टजी भुनभुनाते हुए चले गये और हेड मास्टर साहब क्लास में आकर बैठ गये। मुंशी ज्वालाप्रसादजी अल्पभाषी थे। जितने दुबले थे उतने ही कड़े शासक थे। दुबलेपन से जो रोब में कमी पड़ती थी उसे उनकी दाढ़ी पूरा कर देती थी। संस्कृत नहीं जानते थे परन्तु पूरे आध घंटे जी लगाकर अँगरेजी पढ़ाई। किसी ने चूँ तक नहीं की।

कायस्थ पाठशाला से अलग होने के बाद भट्टजी ने थोड़े समय के लिए कालाकाँकर से निकलने वाले साप्ताहिक पत्र 'सम्राट्' का सम्पादन किया। उन्होंने यह कार्य-भार इस शर्त के साथ मंजूर किया था कि महाराज जब मद्यपान किये हों उन्हें न बुलावें। महाराज इसका सदा ध्यान रखते थे। परन्तु एक दिन आवश्यकतावश उस अवस्था में उन्हें भट्टजी को बुलाना पड़ा। भट्टजी गये। उन्हें जब पता चला कि महाराज मद्यपान किये हुए हैं—और वह छिपता थोड़े ही है—भट्टजी ने तुरन्त उनसे सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया। यह सन् १९१० की बात है। 'हिन्दी प्रदीप' तब बुझ चुका था। उसी समय काशी के बाबू श्यामसुन्दरदासजी ने, अपनी देख-रेख में होनेवाले काशी नागरी प्रचारिणी सभा के बृहत् हिन्दी कोष के निर्माण विभाग में कार्य करने के लिए भट्टजी को काशी बुला लिया। परिस्थिति से लाचार होकर भट्टजी ने अपनी उम्र के ६७ वें वर्ष में पहले-पहल प्रयाग के

बाहर नौकरी की। बन्धु-बान्धव के स्नेह-पाश में फँसे हुए, 'हिन्दी प्रदीप' के बुझ जाने से अन्धकार में व्यथित मनुष्य के लिए यह कठिन समस्या थी। बहुत हिचकिचाए। "स्थानादनुच्चलन्नपि गत्वेव पुनः प्रतिनिवृत्तः" (कालिदास)। उन्हें ऐसा लगता था कि अपने स्थान से बिना उठे काशी गए हों और फिर लौट आए हों। अकबर इलाहाबादी के उस्ताद वहीद साहब के शब्दों में :

> हमने जब वादिये-ग़ुरबत में क़दम रक्खा था।
> दूर तक यादे-वतन आई थी समझाने को॥

काशी जाकर वहां भी हिन्दी की सेवा कर सकेंगे यही एक प्रोत्साहन और अवलम्ब था। वहां पंडित रामचन्द्रजी शुक्ल के साहचर्य से दिन मजे में कटने लगे। एक दिन शुक्लजी के यहां एक बालक कपड़े से आँखों को दबाये व्यथित बैठा था। भट्टजी ने पूछा, "एको का भवा है भैया ?" शुक्लजी ने कहा कि इसकी आँख उठी है। भट्टजी बोले "ई आँख निगोड़ी का उठना-बैठना, आना-जाना, लगना-लगाना सब क्लेशदायी है।" उपस्थित लोग मुसकिरा उठे सिवाय उस व्यथित बालक के। इसी तरह हास्य और विनोद में गरीबी को सर उठाने का मौका न मिला। इसी बीच में बाबू श्यामसुन्दरदास की नौकरी कश्मीर में लगी। सारा कोष कार्यालय उनके साथ जम्मू गया। 'पराधीन सपनेहु सुख नाहीं' भट्टजी को जम्मू जाना पड़ा। वहां पाँच महीने भी काम करने नहीं पाए थे कि एक दिन काठ की सीढ़ी पर से भट्टजी फिसल जाने के कारण नीचे गिर पड़े और उनका कूल्हा उखड़ गया। जैसे-तैसे वहां से प्रयाग

आये। छः महीने खाट पर पड़े रहे और अच्छे हो जाने पर भी बड़ी कठिनाई से वैसाखी के सहारे चल सकते थे। वैसाखी ने जीवन-पर्यन्त उन्हें न छोड़ा। जब कोष कार्यालय काशी लौट आया तो भट्टजी फिर काशी बुला लिये गये। परन्तु इस बार बाबू श्यामसुन्दरदास से उनकी कुछ खटपट हो गई। भट्ट जी कोष का कार्य छोड़कर चले आए और अन्त समय तक प्रयाग ही में रहे। भट्टजी के जीवन के ये दिन बड़ी कठिनाई से बीते। उन्हीं दिनों भट्टजी मुझे यह श्लोक सुनाने लगे।

> वृद्धोन्धः पतिरेष मञ्चकगतः स्थूणावशेषं गृहं
> कालोभ्यर्णजलागमः कुशलिनी पुत्रस्य वार्ताऽपि नो।
> यत्नात्सञ्चिततैलबिन्दुघटिका भग्नेति पर्याकुला
> दृष्ट्वा गर्भभरालसां निजवधूं श्वश्रूश्चिरं रोदिति॥

'पति बूढ़ा है और अन्धा है। चारपाई पर से उठने की उसमें शक्ति नहीं, घर बिल्कुल जर्जर है और स्थान-स्थान पर टेक के सहारे टिका है। न मालूम कब भहरा पड़े। बादल लटके हैं। न मालूम कब बरस पड़ें। पुत्र परदेश गया है और उसकी कुशलता का पत्र भी बहुत दिनों से नहीं आया। पुत्र-वधू आसन्न-प्रसवा है और उसका साँझ-भियान लगा है। बड़े यत्न से एक मट्टी की छोटी-सी हाँडी में थोड़ा-सा तेल इकट्ठा कर रक्खा था कि बहू के बच्चा होने वाला है, मालूम नहीं किस वक्त दीपक की आवश्यकता पड़ जाय। वह हँडिया भी गिर-कर टूट गई। इस सब दुर्दशा से पीड़ित होकर सास, निस्सहाय होकर बहुत देर तक रोती रही।' उपर्युक्त श्लोक भट्टजी के परिवार पर बहुत कुछ लागू होता था। एक बात जो किसी

प्रकार नहीं लागू होती थी वह यह थी कि भट्टजी के परिवार भर में, क्या सास, क्या ससुर, कोई भी व्यक्ति रोना नहीं जानते थे। कठिनाइयों से हँसकर लड़ना जानते थे। महाकवि ठाकुर गोपालशरणसिंह के शब्दों में :

करते जाओ जो करना है।
आँधी आती है, आने दो
लहरों को भय दिखलाने दो
हिमखण्डों को टकराने दो
नाविक! न रोकना नाव कभी
सागर के पार उतरना है॥
करते जाओ जो करना है।

भट्टजी जब गृहस्थी की तारीफ करते थे तो पुल बांध देते थे। कहते थे :

यदि रामा यदि च रमा यदि तनय विनयगुणोपेतः।
यदि तनये तनयोत्पत्तिः सुरवरनगरे किमाधिक्यम्॥

इसकी व्याख्या अपने सरस शब्दों में इस प्रकार करते थे :—

"अपनी पत्नी होय और चार पैसा पास में होय और पुत्र में नम्रता होय। ऊ खूसट न होय और कहूँ बेटवा के बेटवा होय जाय तो इन्द्रवा ससुर के स्वर्ग में का रक्खा है।" और जब गृहस्थी की 'कुफुत' से नाराज होते थे तो कहते थे—

तावत् विद्यानवद्या गुणगणमहिमा रूपसम्पत्तिशौर्यं
स्वस्थाने सर्वशोभा परगुणकथने वाक्पटुस्तावदेव।
यावत् पाकाकुलाभिः स्वगृहयुवतिभिः प्रेषितापत्यवक्त्राद्
हे बाबा नास्ति तैलं न च लवणमपीत्यादि वाचां प्रचारः।

"भैया गृहस्थी ऊ जंजाल है कि तबै तक विद्या, गुण का ठाठ-बाठ, रूप सम्पत्ति पर नाज़, अपने घर में पूछ, दूसरे की तारीफ में पुल बाँधना, ई सब तब तक होत है जब तक घर की औरतन लड़कों को भेजकर नाक में दम नहीं कर देतीं कि ससुरऊ तुम बइठे गुलछर्रे उड़ाय रहे हो। रसोई में न तो तेल है और न नोन है। भोजन कैसे पके, पैसा पास न होय से गृहस्थी रौरव होय जाथी।"

महामना मालवीयजी भट्टजी के थोड़े से अनन्य मित्रों में थे। महामनाजी उनका बहुत आदर करते और भट्टजी को भी महामनाजी पर नाज़ था।

यह तो मैं कैसे कहूँ तेरे खरीदारों में हूँ ?
तू सरापा नाज़ है, मैं नाज़बरदारों में हूँ ॥

महामनाजी भट्टजी के नाज़ थे। भट्टजी महामनाजी के नाज़-बरदारों में थे। भट्टजी को जितना खूसटपने से घिन थी उससे अधिक उन्हें प्रतिभा आकृष्ट करती थी। महामनाजी बचपन ही से प्रतिभा के पुंज थे। इसलिए भट्टजी का उनकी ओर आकृष्ट होना स्वाभाविक था। भट्टजी महामनाजी से दस वर्ष बड़े थे। भट्टजी के लिए तो भवभूति के शब्दों में

गुणाः पूजास्थानं गुणिषु न च लिंगं न च वयः।

दोनों ही प्रायः एक दूसरे के घर आया-जाया करते थे। एक दिन की बात है। उन दिनों मालवीयजी वकालत करते थे। उनका दफ्तर उनके घर के बिलकुल सन्निकट था। एक दिन प्रातःकाल महामनाजी सन्ध्यादिक से निवृत्त होकर प्रतिदिन की भाँति दफ्तर में आए। भट्टजी, हृदयनाथ कुँजरू जी,

ईश्वरशरणजी तथा बहुत से मोवक्किल उनकी पहिले से प्रतीक्षा कर रहे थे। भट्टजी कोने में चुपचाप बैठे थे। मालवीयजी ने आते ही सब मोवक्किलों को बिदा कर दिया। कुछ से यह कहकर कि आज तुम्हारा मुकदमा कैलाशनाथ काटजू कर देंगे। कुछ से यह कहकर कि आज जाव फिर किसी दिन आना। भट्टजी कोने में बैठे इस सब व्यापार को देखकर मन ही मन कुढ़ रहे थे। आखिरकार न रहा गया बोले "मदन! ई तुमरा ढंग हमें तनकौ नहीं सोहाता। जो तुम्हे चार पैसा देय आये रहे उन्हें तो तुम टरकाय दिहो और इन आवारन के साथ बैठ के अपना बखत खराब करबो। इन्हें तो न कुछ करना है न धरना।" सभी भट्ट जी के स्वभाव से परिचित थे और उनका आदर करते थे। हँस दिये। मालवीयजी मुसकरा कर बोले "भट्टजी आज इन लोगों से एक अत्यन्त आवश्यक राजनीतिक विषय पर परामर्श करना है।" भट्टजी कुढ़कर बोले "जाव, रहै देव। हम सब जानित है। इनसे तो बातचीत संझा के भी होइ सकत रही। मोवक्किल तो फिर न अइहे। हम जाइत है। फिर अउबै।" यह कहकर भट्टजी उठ खड़े हुए और चले गए। पाठक चाहे इसे भट्टजी की 'उजड्डई' कहें परन्तु उसके भीतर मालवीयजी के लिए जो स्निग्ध वात्सल्य था उसे तो पारखी ही समझ सकते हैं।

भट्टजी की एक चचेरी बहिन थीं तुलसा। भट्टजी उनसे बड़ा स्नेह करते थे। और तुलसा भी भट्टजी का बहुत छोह करती थीं। प्रतिवर्ष वह भइया-दुइज के दिन भट्टजी को टीका काढ़ने आती थीं। और भइया दुइज को जिस

प्रकार सब बहिनें अपने-अपने भाइयों के लिए थोड़ी-सी मिठाई लाती हैं तुलसा भी अपने वयोवृद्ध भाई के लिए लाती थीं। टीका कढ़वा कर भट्टजी उन्हें एक अठन्नी देते थे। बूढ़ी बहिन बूढ़े भाई को तिलक लगावे इसमें पवित्र भातृत्व सन्निहित है। इसका अनिर्वचनीय सुख :

न शक्यते वर्णयितुं तदा गिरा
स्वयंतदन्तःकरणेन गृह्यते।

उसका वर्णन वाणी से नहीं किया जा सकता। उसे केवल अन्तःकरण ही ग्रहण कर सकता है। पूर्व क्रमानुसार एक भैयादुइज को तुलसा आईं और भट्टजी ने उनका उसी प्रकार सत्कार किया। उसी दिन सन्ध्या समय फिर आईं। अपना घर ही था। भट्टजी ने उनसे मुँह बनाते हुए हँसकर कहा "कहौ तुलसा! सबेरे तो तुमरा अठन्नी से मुँह फूंक चुके अब ई बखत फिर काहें आइउ?" इसके जवाब की कोई अपेक्षा न थी। दोनों भाई बहिन हँस पड़े। बात खतम हो गई। 'हमरी न जैहै बान तुमरी न होइ है हान' वाली कहावत भी चरितार्थ हो गई। भट्ट जी का क्रोध और स्नेह 'काकु' "भिन्न कण्ठध्वनि धीरैः काकुरित्यभिधीयते" पर निर्भर रहता था। स्नेह में कटु से कटु शब्दों को इतने माधुर्य, और स्निग्ध भाव-भंगी से प्रयोग करते थे कि घाव लगना तो दूर रहा प्रयुक्त पुरुष गद्गद् हो जाता था :

यथा व्याघ्री हरेत् पुत्रान् दंष्ट्राभिश्च न पीडयेत्।
भीता पतनभेदाभ्यां तद्वत् वर्णान प्रयोजयेत्॥
राजशेखर—काव्यमीमांसा

'जिस प्रकार बाघिन अपने बच्चे को स्थानान्तरित करने के समय न इतने फुलके से पकड़ती है कि बच्चा गिर पड़े और न इतने जोर से पकड़ती है कि उसके पैने नाखून बच्चे के मांस में चुभ जायँ और उसे पीड़ा हो, उसी प्रकार सुधी को वर्णों का प्रयोग करना चाहिए।' यही हाल भट्टजी का था। उनके प्रयुक्त कटु शब्द भी किसी को पीड़ा नहीं पहुंचाते थे।

भट्टजी को जिन कठिनाइयों से अपना जीवन व्यतीत करना पड़ा है उस पर एक बात गौर करने की है। इस भयंकर परिस्थिति का उत्तरदायित्व किस पर है? शास्त्रकार तो यह कहकर छुट्टी पा गये कि 'अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्।' मनुष्य को अपने किये का फल भोगना पड़ेगा चाहे वह कर्म इस जन्म का हो या पूर्व-जन्म का। इस पूर्व-जन्म के कर्म के आगे दलील की टांग टूट जाती है। जब कुछ समझ में न आवे तो वह पूर्व-जन्म के माथे थोप दिया जाता है। मैं इस पर बहस न करूंगा। वह बेकार होगी। मैं पूछता हूँ कि क्या इसमें समाज का, शासन का कोई उत्तरदायित्व नहीं है? क्या कठिनाइयों से घिरे हुए एक धर्मनिष्ठ सद्गृहस्थ का ईश्वर से लेकर एक तुच्छ मानव तक कोई पुरसां हाल नहीं है? यदि पूर्व-जन्म के कर्म का सिद्धान्त मान भी लिया जाय तो क्या दंड की कोई हद नहीं होती? क्या इस जन्म में किये गये पुण्यों से कुछ भी प्रायश्चित नहीं होता? क्या एक विद्वान्, सरल स्वभाव, न्यायप्रिय व्यक्ति से गुर्च का सत्त निकलवाकर जीविकोपार्जन कराने ही में नियति और दंड-विधान की छाती ठंडी होती है? यह दंड-विधान नियति का भले ही हो, ईश्वर का

नहीं हो सकता। वह तो गुनाहों का माफ करने वाला है :

मौक़ूफ जुर्म ही पै करम का जहूर था।
बन्दे अगर क़सूर न करते क़सूर था॥

—अमीर

जिस समय शुक्राचार्य ने कहा :—

दंड एवं नीतिः न ह्येवंविधं वशोपनयन मस्ति भूतानां यथा दण्ड।

दंड ही एक नीति है। दंड से बढ़कर संसार में लोगों को वश में करने का और कोई उपाय नहीं है। कौटिल्य ने इस नीति का तुरन्त प्रतिवाद किया बोले :

तीव्रदंडः उद्वेजनीयः। मृदुदण्डः परिभूयते, यथार्हदण्डः पूज्यः

बहुत कड़ा दंड बड़ी उत्तेजना पैदा करता है। लोग छटपटा जाते हैं और बात बनती नहीं है। बहुत हलका दंड निरर्थक होता है। इसलिए जितना अपराध हो उतना ही शासक दंड दें।

परन्तु कौन सुनता है? समाज के नृशंस कानून उपेक्षा प्रदर्शित करते अपनी राह चले जाते हैं। समाज कहता है :—

कहो जो चाहो सुन लेंगे मगर मुतलक़ न समझेंगे।
तबीयत तो खुदा जाने कहाँ है कान हाज़िर है॥

—अकबर

धर्माचार्यों को इतना समय कहाँ कि वे 'तीव्र' और 'यथार्ह' के पचड़े में पड़ें। उन्होंने कृपा कर कानून बना दिया। इन्सान जहन्नुम में जाय या बहिश्त में। यह काम शासक और समाज का है।

आशना हों कान क्या इन्सान की फरियाद से।
शेख़ को फ़ुसरत नहीं मिलती खुदा की याद से॥

—चकबस्त

जिस समाज का, जिस शासन का, जिस किसी का भी भट्टजी की इस विषम परिस्थिति के लिए उत्तरदायित्व हो उसका कहाँ ठिकाना लगेगा, भगवान् ही जाने। हम तो यही कहेंगे कि—

उपकारिणि विश्रब्धे शुद्धमतौ यः समाचरति पापम्।
तम् जनमसत्यसंधं भगवति वसुधे कथं वहसि ?

जो उपकारी पुरुष है, जो सरल स्वभाव है, जो शुद्ध मति है ऐसे पुरुष के साथ जो ऐसा दारुण व्यवहार करता है उसे हे भगवति वसुन्धरे! तुम कैसे वहन करती हो ?

चार

आज न जाने क्यों मेरी प्रबल इच्छा हुई कि इस संस्मरण के लिखने के पूर्व मैं अपने गुरुदेव (भट्टजी) के टुटहे मकान का दर्शन कर उससे कुछ प्रेरणा ग्रहण करूँ। उसे भीतर से देखे हुए मुझे चालीस वर्ष से अधिक हो गये। यों तो आते-जाते भट्टजी के देहावसान (१९१४) के बाद मैंने उसे अनेक बार देखा है। यदि उस मोहल्ले में मुझे कभी किसी कारणवश जाना होता था तो चाहे थोड़ा फेर खाकर जाना पड़े, उनके मकान के नीचे की गली से जाता था और उनके मकान के सामने नतमस्तक होकर सुख का अनुभव करता था यद्यपि ऐसे अवसर कम आते थे। मैं उनके घर को देवस्थान मानता हूँ। सहसा यह श्लोक मुझे स्मरण हो आया—

> गोयाने गोवधप्रोक्तं अश्वयाने तु निष्फलम्।
> नरयाने तदर्धं स्यादश्वमेधं पदे पदे॥

तीर्थस्थान का दर्शन मनुष्य को पैदल जाकर करना चाहिए। बैलगाड़ी पर तीर्थाटन करने से गोवध का पाप होता है। घोड़ागाड़ी पर जाने से तीर्थाटन निष्फल होता है। नरयान जैसे

डाँडी, झप्पान इत्यादि पर जाने से पुण्य आधा हो जाता है। परन्तु पैदल तीर्थाटन करने से पग-पग पर अश्वमेध करने का पुण्य होता है। जिस समय इस श्लोक की रचना हुई उस समय मोटर, रेल, वायुयान इत्यादि का आविष्कार नहीं हुआ था, नहीं तो उनका भी उल्लेख होता चाहे श्लोककर्त्ता को अनुष्टुप छंद के स्थान में शार्दूलविक्रीडित ही का आश्रय क्यों न लेना पड़ता। जब मैंने पहले-पहल इस श्लोक को पढ़ा था, इसका बड़ा मजाक उड़ाया था। परन्तु ऐसी दैवप्रेरणा हुई कि 'Those who came to scoff remained to pray" (Goldsmith) 'जो गिरजाघर केवल पादरी साहब का मजाक उड़ाने के लिए गये थे वे ऐसे प्रभावित हुए कि नतमस्तक होकर वन्दना करने लगे' (गोल्डस्मिथ)। न मालूम क्यों मुझे ऐसी प्रेरणा हुई कि मैं भट्टजी के मकान को पैदल देखने जाऊँ और मैंने ऐसा ही किया। मैंने भट्टजी के पौत्र (पं० मूलचन्दजी के पुत्र) से पहिले से कह रक्खा था कि वे मुझे नियत स्थान पर मिलें। वे मेरी प्रतीक्षा कर रहे थे। उनके साथ मैंने मकान में प्रवेश किया। उस समय मकान में कुछ किरायेदार रह रहे हैं। भट्टजी के मकान में किरायेदार ! बात कुछ पसन्द नहीं आई। परन्तु 'समय एव करोति बलाबलं' समय बलवान् को निर्बल कर देता है। संसार का यही क्रम है। मकान के दो विभाग थे। एक मर्दाना, दूसरा जनाना। मर्दाने में केवल एक कमरा १२'×८' का था हालाँकि उसे कमरा कहना कमरे ही की नहीं, कमरे में रहनेवाले की भी तौहीन करना है। कमरे के बगल में एक छोटी-सी कोठरी थी जिसमें भट्टजी विश्राम

करते थे और अपनी पुस्तकें और कपड़ा-लत्ता रखते थे। कमरे में गली की तरफ तीन छड़दार दरवाजे, सामने एक प्रवेश-द्वार, प्रवेश-द्वार के सामने एक छोटा-सा चबूतरा। इसी चबूतरे को काटकर एक सीढ़ी बनाई गई थी। कमरे के भीतर सामने दीवाल में एक खुली अलमारी थी जिसपर श्रीमद्भागवत की एक पत्रेदार पोथी वेष्ठन में बँधी रक्खी रहती थी। अलमारी के ऊपर भट्टजी का, पूजा में ध्यानमग्न, एक छोटा-सा एनलार्जमेंट टँगा था। उसे देख कर शूद्रक का यह श्लोक बरबस याद आ जाता था—

> पर्यंकग्रंथिबन्धद्विगुणितभुजगाश्लेषसंवीतजानो-
> रन्तः प्राणावरोधव्युपरतसकलज्ञानरुद्धेन्द्रियस्य।
> आत्मन्यात्मानमेव व्यपगतकरणं पश्यतस्तत्त्वदृष्ट्या
> शम्भोर्वः पातु शून्येक्षणघटितलयब्रह्मलग्नः समाधिः॥

जिसका भावार्थ यह है कि 'पर्यंक पर पद्मासन लगाये हुए, सब इन्द्रियों को वश में कर, अपने को अपनी ही अन्तरात्मा में सन्निविष्ट कर, भगवान् शंकर की ब्रह्म में लीन समाधि हमें पवित्र करे।' जनाने हिस्से में एक छोटा-सा आँगन, दो तरफ़ दालान, एक में गाय के लिए छोटा सायबान और एक में ऊपर जाने की सीढ़ी, तीन-चार छोटी-छोटी कोठरियाँ, एक दालान में रसोईघर, दूसरी दालान में ठाकुरजी की आलमारी जिसमें ठाकुरजी का सिंहासन रहता था। ये वही ठाकुरजी हैं जिनके सम्बन्ध में भट्टजी प्रायः जब पूजा करते खीझते थे तो कह बैठते थे कि "अच्छा करमभोग है। तुलसा झौवा भर पाल गई हैं।" ३००) में इससे बड़ा मकान मिल ही कैसे सकता था?

यह कहिए, सस्ती का वक्त था, मिल गया। आजकल तो चार-पाँच हजार से कम का न मिलता। उस वक्त म्युनिसिपैलिटी के ऐसे कानून न थे, वर्ना इतना छोटा आँगन और इतनी कोठरियां बन ही नहीं सकती थीं। अस्तु, सामने कमरे में दो तख्त बिछे रहते थे। चालीस वर्ष बाद आज भी वे ही तख्त उसी स्थान पर बिछे देखे। इन्हीं तख्तों पर सम्पूर्ण 'हिन्दी प्रदीप' का सम्पादन हुआ, इन्हीं तख्तों पर सायंकाल के बाद भट्टजी कभी तो अमृत की वर्षा और कभी अपने दिल का गुबार निकाला करते थे। इन्हीं तख्तों पर मैंने संस्कृत की शिक्षा पाई। कोई ऐसा विषय नहीं है, क्या राजनीतिक क्या सामाजिक और क्या साहित्यिक, जिसकी कड़ी समालोचना इन तख्तों पर न की गई हो। कोई ऐसा विषय नहीं है जिसकी धज्जियाँ इन तख्तों पर न उड़ाई गई हों, परन्तु उनमें कभी कटुता नहीं रहती थी, यथास्थान यथोचित उपहास अवश्य रहता था। तख्त पर कोई 'बिछायत' (बिछौना दरी इत्यादि) नहीं रहता था। यद्यपि तख्त जीर्ण था परन्तु लोगों के बैठते-बैठते इतना घिस गया था कि मालूम होता था कि उस पर पालिश की गई हो। कमरे में घुसते ही मेरी दृष्टि सहसा सामने की दीवाल पर पड़ी जहाँ भट्टजी का ध्यानावस्थित चित्र रहता था। अब वह चित्र वहाँ नहीं है। उसे उनके पौत्र डाक्टर दिवस्पति भट्ट अपने साथ काशी ले गए। मैंने सर्वप्रथम उस स्थान को, जहाँ चित्र लगा रहता था, प्रणाम किया। मुझे ऐसा भासित हुआ जैसे वह चित्र अब भी वहाँ लगा हो। अपनी आँखों को उस स्थान से खींचकर मैंने तख्त पर दृष्टिपात

किया। मैं मंत्र-मुग्ध, खोया-खोया-सा देखता रह गया। बहुत-सी चीजें उस समय उस पर पड़ी थीं। परन्तु मुझे एक न दिखाई पड़ी। यद्यपि मेरे बाह्य नेत्र खुले थे तथापि उन्होंने अपना कर्त्तव्य स्थगित कर दिया था। मैं तो अपने भीतरी नेत्रों से कुछ और ही व्यापार देख रहा था। अतीत के चल-चित्र मेरे हृदय-पटल पर आ-आकर अन्तर्धान हो रहे थे। मुझे देख पड़ रहा था कि भट्टजी बगल की आलमारी की ओर मुँह कर पान बना रहे हैं। लक्ष्मीकान्त भट्ट (उनके पुत्र) कह रहे हैं "ताऊ, श्रीधर पाठक आय रहे हैं।" भट्टजी कह रहे हैं "हमरा करम फूटा। पन्द्रह ठो तो पानै है। सब खाइ जइहैं तब हम का करबै। पैसौ तो नहीं न कि फिर मगाय लेई" इत्यादि कितने ही संस्मरणों का ताँता-सा बँध गया।

विनिश्चेतुं शक्यो न सुखमिति वा दुःखमिति वा
प्रबोधो निद्रा वा किमु विषविसर्पः किमु मदः।

—भवभूति

'मैं यह निश्चय न कर सका कि मैं सुख का अनुभव कर रहा हूँ या दुःख का, मैं जाग रहा हूँ अथवा सो रहा हूँ। मेरी धमनियों में विष का प्रसार हो रहा है अथवा मधु का'। कुछ समझ पाने की मेरी शक्ति उन थोड़े-से क्षणों के लिए लुंज सी हो गई थी। जीवन में कुछ ऐसे क्षण होते हैं कि जब मनुष्य का शरीर चाहे जिस अवस्था में हो, उसकी अन्तरात्मा घुटनों के बल नतमस्तक हो जाती है। "इबादत और ब-क़ैदे-होश तौहीने-इबादत है।" इसी विचारधारा में बूड़-उतरा रहा था कि धनंजय

भट्ट के ये शब्द मेरे कानों में पड़े "चलिए अब चलें। मुझे हिन्दी साहित्य सम्मेलन जाना है"। मेरा ध्यान भंग हुआ। मैंने देखा कि तख्त पर एक ओर थाली में उबला हुआ आलू रक्खा है, दूसरी ओर एक दौरी उबली हुई मटर रक्खी हुई है। पात्रों में कई प्रकार के मसाले अस्त-व्यस्त रक्खे हैं। कमरे के फर्श के कोने में एक लड़की सिल पर मसाला पीस रही है। दूसरी चटनी पीस रही थी और बीच-बीच में हम लोगों की ओर विस्मय से देखती जाती है। बात यह थी कि किरायेदार का एक पुत्र कचालू (चाट) बेचता था। संध्या के लिए खोंचे की तैयारी हो रही थी। जिस कमरे में भट्टजी के समय साहित्यानुशीलन होता था, जिस तख्त पर साहित्य की पुस्तकें दायें-बायें रक्खी रहती थीं वहां चारों ओर चाट का सामान बिखरा है। वाह रे विधि की विडम्बना! वाह रे समय का हेर-फेर! सहसा मुझे जगन्नाथ पण्डितराज का वह श्लोक जो भट्टजी प्रायः पढ़ा करते थे, याद आ गया।

> पुरा सरसि मानसे विकचसारसालिस्खल-
> त्परागसुरभीकृते पयसि यस्य यान्तं वयः।
> स पल्वलजले मिलदनेकभेकाकुले
> मरालकुलनायकः कथय रे कथं वर्तताम्॥

अर्थात् एक समय जिस राजहंस ने एक ऐसे सरोवर में, जिसका जल मधुकरों के बिखरे हुए पुष्प पराग से सुरभित हो रहा था, अपना जीवन व्यतीत किया वह अब एक क्षीण और गन्दे जलवाली तलैया में, जिसमें भेकवृन्द अपनी टर-टर से कान फाड़े डालते हैं, भला कैसे रहे! परन्तु "नीचैर्गच्छत्युपरि

च दशा चक्रनेमिक्रमेण" (कालिदास—उत्तर मेघ) मनुष्य की दशा पहिये की तीलियों की भाँति कभी ऊपर कभी नीचे होती रहती है। इस समय चक्र की नेमि (भट्टजी के घर की दशा) नीचे थी। उसे ऊपर आना है। लोग कहते हैं कि दीवाल के कान होते हैं। यदि ऐसा है तो मकान में हृदय अवश्य होगा और इस मकान में भट्टजी का हृदय होगा, किरायेदार का नहीं। भट्टजी यद्यपि चटोरे थे परन्तु उनके गृहस्थित हृदय को किरायेदार की चाट से कोई तृप्ति न होती होगी, चटकना ही लगता होगा। अस्तु।

देव-मन्दिर के दर्शन कर मैं लौटा। मैं उसी गली से चला जो भट्टजी के मकान के बगल से जाती थी। अब वह गली अच्छी हालत में है। उसमें पत्थर जड़े हुए हैं। गली दस फुट से ज्यादा चौड़ी न होगी। दो-एक जगह तो इससे भी कम चौड़ी रह गई है। भट्टजी के समय में इस गली की हालत बड़ी खतरनाक थी। गली के एक कोने पर बादशाही वक्त का एक बड़ा-सा नाला था जिसके ऊपर पक्का culvert (पुल) था। इस पुल की दोनों तरफ यातायात के लिए तीन-तीन डंडे की सीढ़ी थीं। पुलिया से लेकर भट्टजी के मकान तक उस १० फुट की चौड़ी गली के बीचोबीच दो फुट चौड़ी नाली थी जिसमें उस नाले का पानी निरन्तर बहता रहता था। इस नाली के दोनों तरफ तीन-तीन चार-चार फुट जगह बचती थी, उसी पर से लोग आया-जाया करते थे। और यदि किसी समय कोई गाय-भैंस आती-जाती थी तो शिष्टाचार से नाली की दूसरी ओर वाली ढिग पर जाना पड़ता था वर्ना उसकी

खैरियत न थी। इतने पर भी वह अभागा व्यक्ति शास्त्र के निम्न आदेश का पालन तो कर ही नहीं सकता था क्योंकि वह गली सब ले-देकर अधिक-से-अधिक १० ही फुट तो चौड़ी थी।

हस्ती हस्तसहस्रेण शतहस्तेन वाजिनः।
शृंगिणो दशहस्तेन स्थानत्यागेन दुर्जनः॥

हाथी से हज़ार हाथ दूर रहना चाहिए, घोड़े से सौ हाथ, सींग वाले जानवरों से १० हाथ दूर रहना चाहिए परन्तु दुर्जन का तो स्थान ही त्याग कर देना चाहिए। ऐसी ख्यात-नामा गली में भट्टजी का मकान था। इसी गली पर भट्टजी को जीवन भर चलना पड़ा है। इसी गली पर भट्टजी ने अपनी जान हथेली पर रखकर अपने जीवन के अन्तिम दुखद वर्ष, अपनी मन्दज्योति आंखों और बैसाखी के सहारे चलकर हिन्दी की सेवा की है। साहित्यिकों का आदर, उनके सुख-दुख पर निगाह विरले ही करते हैं। म्युनिसिपैलिटी का फर्ज था कि उस गली के बीचोंबीच बहने वाली नाली को कम से कम पत्थर से तो पाट देती। परन्तु म्युनिसिपैलिटी की सूझ भला यहां तक पहुँच सकती है ? अकबर के अननुकरणीय शब्दों में :

"मेम्बर अली मुराद हैं या सुखनिधान हैं।
लेकिन मोआइने को वही नाबदान हैं।"

भट्टजी के मरने के बहुत दिन बाद आखिर वह गली सुधारी गयी पर यदि उनके गाढ़े के समय में बन जाती तो भट्टजी को बैसाखी पर चलने में सुगमता होती। अस्तु।

भट्टजी के निवासस्थान का दर्शन कर घर लौटते समय रास्ते भर मैं खोया-खोया-सा था। रास्ते भर इसी उधेड़बुन में

था कि जो कुछ होना था वह तो हो गया, अब हमारा क्या कर्त्तव्य है ? भट्टजी की साहित्यसेवा के दम भरने वालों का क्या कर्त्तव्य है ? शासन का, जो साहित्यिकों का समादर करना चाहता है और करता भी है, क्या कर्त्तव्य है ? भट्टजी तो अब हैं नहीं, अभी उनकी स्मृति शेष है। यह स्मृति भी ऐसी अस्थायी होती है कि यदि उसे रोक-थामकर न रक्खा जाय तो वह 'गजभुक्त कपित्थवत्' जिस प्रकार हाथी का खाया हुआ सम्पूर्ण कैथा खोखला हो जाता है उसी प्रकार लोप हो जाती है। भट्टजी की यह स्मृति एक अमूल्य निधि है, साहित्यिकों का पाथेय है। इसकी रक्षा आवश्यक है। प्रश्न है, यह कैसे की जाय ? स्मृति के हेतु कोई न कोई वस्तु स्थायी होनी चाहिए। गलियाँ कालक्रमानुसार चौड़ी होती रहती हैं। इधर-उधर के मकान गिर जाते हैं अथवा गिरा दिये जाते हैं। छोटे-छोटे मकानों के स्थान में बड़ी-बड़ी अट्टालिकाएँ बन जाती हैं। थोड़े समय में यह भी पता न रह जायगा कि भट्टजी यहाँ रहते थे। समय बीत जाने पर मुगल-साम्राज्य के अन्तिम सम्राट्, रंगून में किस स्थान पर मरे। बहुत खोज-बीन करने पर पता न चल सका तब एक स्थान पर जहाँ वह सम्भवतः मरे थे यह प्रस्तर लेख लगा दिया गया "मुगल-साम्राज्य के अन्तिम बादशाह यहीं कहीं, इस स्थान के निकट मरे थे"। नियति के इस विधान को देखकर रोंगटे खड़े हो जाते हैं। बिना आँसू बहाये आँखें रोने लगती हैं। एक शायर ने कहा है—

शक न कर मेरी खुश्क आँखों पर।
यूँ भी आँसू बहाये जाते हैं।

इस परिवर्तनशील संसार में किसी स्थायी चीज के सहारे ही स्मृति कायम रह सकती है। अशोक के शिलालेख ही दो हजार वर्ष से अधिक बीत जाने पर भी उनकी स्मृति अक्षुण्ण रक्खे हैं। शंबूक के बध के पश्चात् भगवान् रामचन्द्र पंचवटी में पहुँचे। पहिचानने में उन्हें कठिनता हुई। बोले :—

पूरा यत्र स्रोतः पुलिनमधुना तत्र सरितां
विपर्यासं यातो घनविरलभावः क्षितिरुहाम्।
बहोर्दृष्टं कालादपरमिव मन्ये वनमिदं
निवेशः शैलानां तदिदमिति बुद्धिं द्रढयति॥

रामचन्द्र कहते हैं, मैंने इस वन को बहुत समय के बाद देखा है। यह तो इतना बदल गया है जैसे और कोई वन हो। जहाँ पहिले नदी का बहाव था वहाँ अब कगारा हो गया, जहाँ घना जंगल था वहाँ वृक्षसम्पत्ति वीड़र हो गई और जहाँ वीड़र थी वहाँ घना जंगल। केवल एक स्थायी चीज है और वह है पर्वत, जिससे पता चलता है कि यह वही स्थान है।

इस प्रकार भट्टजी के निवासस्थान को यदि 'पं० बालकृष्ण भट्ट स्मारक' के रूप में परिवर्तित कर दिया जाय, उसे सुदृढ़ कर दिया जाय, उसमें एक पुस्तकालय कर दिया जाय, जिसमें 'हिन्दी प्रदीप' की पूरी प्रतियाँ, उनकी अनेक साहित्यिक कृतियाँ तथा साहित्य एवं धर्मशास्त्र के ग्रंथ रक्खे जायँ, तो भट्टजी की पुण्यस्मृति संचित रह सकती है। भट्टजी के वंशज इससे सहमत हैं। मेरी उनकी बातें हो चुकी हैं। मुझे पूर्ण आशा है कि उत्तर प्रदेश की सरकार इस सुझाव का स्वागत करेगी और पुण्य एवं यश की भागी बनेगी। इस प्रस्ताव में

बहुत ही थोड़ा खर्च है और इसे कार्यरूप में परिणत करना बड़ा सुगम है। मैं इस सम्बन्ध में उत्तर प्रदेश सरकार से पत्र-व्यवहार करूँगा यद्यपि साहित्यिक दृष्टि से यह अखिल भारतवर्षीय प्रश्न है। मुझे पूर्ण आशा है कि भारत के सब साहित्यिक इस प्रस्ताव का अनुमोदन करेंगे और उनका सहयोग मुझे प्राप्त होगा। यह जानकर प्रसन्नता होती है कि जिस नियति ने भट्ट ऐसे सरल स्वभाव, धर्मनिष्ठ हिन्दी के अनन्य सेवक के साथ दारुण अत्याचार किये हैं उसका उसे प्रायश्चित्त करना पड़ा। उन्हीं भट्टजी, जिन्हें जीवन-यापन के लिए, हिन्दी की सेवा के लिए इतनी यातनाएँ भोगनी पड़ीं, का पौत्र (पं० जनार्दन भट्ट का पुत्र) पं० उषापति भट्ट अभी-अभी डिस्ट्रिक्ट मैजिस्ट्रेट अलमोड़ा नियुक्त हुआ है। चि० उषापति को मेरी सगी नातिन ब्याही है। जब मैंने जनार्दनजी को अपनी शुभकामना भेजी तो वे मुझे लिखते हैं :—

"......यह भगवान् की कृपा, पूज्य पिताजी का सुकृत का प्रत्यक्ष परिणाम है...उषापति की जन्म-कुण्डली के ग्रहों का संयोग भी कम सहायक नहीं है। इस सम्बन्ध में उषापति की जन्मपत्री के आधार पर एक ज्योतिषी की भविष्यवाणी का उल्लेख करना (जो उसने २७ फरवरी १९५३ को आज से पाँच वर्ष पहिले की थी) मनोरंजक होगा। उक्त ज्योतिषी की भविष्यवाणी निम्न शब्दों में थी :—

"कुण्डली में बुध की दशा १९४२ से लगी है और १९५८ तक रहेगी। यह दशा बहुत उत्तम है। जब से लगी तब से लेकर १९५८ तक उत्तरोत्तर उन्नति होती रहेगी और १९५८

तक कलेक्टर के पद पर पहुँच जाय, इत्यादि ।

यह एक आश्चर्यजनक बात है कि ज्योतिषी के कथनानुसार १६४२ से ही उसकी पहिली नौकरी लगी और उत्तरोत्तर उन्नति होती रही। १६५८ में कलक्टर का पद मिला। यह भविष्यवाणी मेरे नोटबुक में पाँच वर्ष से दर्ज है और जिस तारीख को भविष्यवाणी की गयी थी वह भी मेरे नोटबुक में दर्ज है। वह नोटबुक मेरे सामने है और उसी नोटबुक से मैं यह लिख रहा हूँ। ज्योतिष के अनुसार ग्रहों की भवितव्यता और अपरिहार्यता का यह अद्भुत प्रमाण है।"

वाह रे भगवान् की माया ! वाह रे उसकी अनुकम्पा !

इससे पाठक यह न समझें कि चि० उषापति का अभ्युदय केवल ग्रहों का परिणाम है। उषापति में असाधारण प्रतिभा है, विद्वत्ता है, कार्यक्षमता है। इन गुणों का उपार्जन उसने निरन्तर परिश्रम एवं लगन से किया है। उसकी सच्चरित्रता एवं निष्कलंक जीवन ने उन गुणों को अधिकतर अलंकृत कर दिया है।

रही ग्रहों की बात। वे भी तो भव्य ही का पक्षपात करते हैं।

काश भट्टजी इस समय जीवित होते !!!

पांच

किसी व्यक्ति का केवल एक संस्मरण लिखना कोई बड़ी बात नहीं है। परन्तु किसी व्यक्ति के जीवन भर के संस्मरणों को याद कर-कर के लिखना कठिन होता है, विशेषकर यदि संस्मरणनायक एक महापुरुष हुआ। संस्मरणों के क्रमबद्ध तारतम्य में बड़ी बाधा पड़ती है क्योंकि स्वभावत: ये संस्मरण उच्छृंखल होते हैं। सम्भवत: यह उच्छृंखलता ही उनका सौंदर्य है। लेखक का हृदय सिनेमा के टिकटघर की तरह हो जाता है और लेखक टिकट-बाबू। उसकी खिड़की के आगे संस्मरणों की भीड़ लगी रहती है और बेचारे टिकट-बाबू की अक्ल ख़ब्त हो जाती है जब ये संस्मरण धींगामुष्ठी करने लगते हैं। इन संस्मरणों में कुछ तो तगड़े होते हैं और कुछ दुर्बल। 'जिसकी लाठी उसकी भैंस'। तगड़े संस्मरणों को पहिले टिकट मिलना स्वाभाविक है। टिकट-बाबू भी उनका पक्षपात करता है और उन्हें पहिले टिकट दे देता है क्योंकि 'भवन्ति भव्येषुहि पक्षपाता:'। भट्टजी की 'घासवाली' की क्या मजाल कि वह 'राधालँगड़ों' को ठेलकर पहिले टिकट ले सके। ('घास-

वाली' और 'राधालँगड़ों' के संस्मरण भट्टजी के गार्हस्थ्य-जीवन के सम्बन्ध में आ चुके हैं ।)

साहित्यिक जीवन—अब मैं भट्टजी के साहित्यिक जीवन से सम्बन्धित संस्मरणों का उल्लेख करूँगा । प्रस्तावना में यह कह देना आवश्यक है कि भट्टजी एक ऊँचे टप्पे के चरित्रवान् और धर्मिष्ठ पुरुष थे । सच्चरित्रता के निकष (कसौटी) थे । वे एक महापुरुष थे । उनका साहित्य, उनकी सच्चरित्रता से अलंकृत होता था । निखरता था । पाठक यदि इसे हृदयस्थ कर लेंगे तो उन्हें भट्टजी के साहित्यिक संस्मरणों में जो कहीं-कहीं विरोधाभास की छाया दिखलाई पड़ेगी उसकी गुत्थी तुरंत सुलझ जायगी । एक दिन बाबू (अब राजर्षि) पुरुषोत्तमदास टण्डन भट्टजी से मिलने के लिए गये । वे भट्टजी के भक्त थे । उस समय भट्टजी बैठे "कुट्टनीमतम्" पढ़ रहे थे । टण्डनजी ने पूछा "भट्टजी ! का पढ़ रहे हौ" भट्टजी ने उत्तर दिया, "भैया, कुट्टनीमत पढ़ित है ।" टण्डनजी हँसे और बोले "ई उमर में कुट्टनीमत !" भट्टजी बोले, "तो और का पढ़ी ?" टण्डन जी बोले "वेद" । भट्टजी तुरन्त बोल उठे "बेदवा ससुर में का रक्खा है ।" दोनों हँसने लगे । दामोदर गुप्त विरचित "कुट्टनी-मतम्" साहित्य में लगभग सात सौ आर्या छंदों का एक अपूर्व काव्य है । ये दामोदर गुप्त कौन थे, कब हुए, इन्होंने और कोई ग्रंथ लिखा या नहीं इत्यादि प्रश्नों के पचड़े में हम नहीं पड़ते क्योंकि यह संस्मरण का विषय नहीं है और यदि लिखूँगा तो संस्मरण का मज़ा किरकिरा हो जायगा । यह काव्य दामोदर गुप्त का बनाया है इसमें सन्देह नहीं क्योंकि ग्रंथ के

आरम्भ ही में उन्होंने 'दामोदरगुप्त विरचितं शृणुत' कह दिया। इस संस्मरण के लिए इतना पर्याप्त है। 'कुट्टनीमतम्' एक कुटनी का जीवन-चरित है। इस ग्रंथ का मंगलाचरण ही विलक्षण है। काव्य-प्रणेता कामदेव की स्तुति करता है। उपयुक्त ही है। कहता है :

स जयति सङ्कल्पभवो रतिमुखशतपत्रचुम्बन भ्रमरः।
यस्यानुरक्तललनानयनान्तविलोकने वसतिः॥

'उस कामदेव की जय हो जो शतपत्ररूपी रति के मुख के चूमने वाले भ्रमर हैं और जिनका निवासस्थान, मदविह्वला कामिनियों की तिरछी चितवन से देखने वाली आँखों का कोना है'। अन्यत्र वे कहते हैं :—

अयमेव दह्यमान स्मरनिर्गतधूम वर्तिकाकारः।
चिकुरभरस्तव सुन्दरि कामिजनं किङ्किरीकुरुते॥

एक सुन्दरी स्त्री को कुटनी अपने ध्येय की ओर आकृष्ट करने के लिए बहका रही है। वह उसके केशों तथा अन्य अंगों के लावण्य को समझाती है। केशों की प्रशंसा करते हुए कहती है, 'हे सुमुखि ! तुम्हारे ये बाल जो काम-दहन के समय निकले हुए धूम्रपुंज की तरह लहरा रहे हैं वे तो कामिजनों को तुम्हारा गुलाम बना देंगे। इस प्रकार के श्लोकों से 'कुट्टनीमतम्' भरा पड़ा है। भट्टजी को ऐसे श्लोकों में क्या आनन्द मिलता था ? इसी प्रश्न के उत्तर में उनके साहित्यानुशीलन का रहस्य निहित है। इसी में उनके "बेदवा ससुर में का रक्खा है" की मीमांसा है। कामुक साहित्यिक उपर्युक्त श्लोक तथा उस तरह के अन्य श्लोकों में एक काल्पनिक सुन्दरी स्त्री को मूर्त करता है और

उस पर अपना हृदय न्योछावर करता है। भट्टजी के हृदय में किसी ऐसी काल्पनिक स्त्री के लिए कोई स्थान नहीं है। वह बेचारी तो बाहर किसी कोने में उपेक्षिता-सी पड़ी रहती है। उनके हृदय में तो कवि की प्रतिभा, उसका शब्द-विन्यास, उसकी कल्पना ही को स्थान मिलता है और वे उसी के रसास्वादन से तृप्त होते हैं, वेद जो अमृत भाण्ड हैं उससे नहीं। तभी तो वे बहुधा यह श्लोक पढ़ा करते थे :—

सत्कविरसनाशूर्पी निस्तुतुषतरशब्दशालिपाकेन।
तृप्तो दयितराधमपि नाद्रियते का सुधा दासी॥

'सुकवि के जिह्वा रूपी सूप से पछोरे हुए शब्द रूपी भात (पका हुआ चावल) से तृप्त साहित्यिक, प्रेयसी के अधर का आदर नहीं करते। सुधा (बेदवा) कौन गिनती में है?' यही कारण है कि यदि किसी शृङ्गारिक काव्य रचना ने मर्यादा को अतिक्रान्त भी किया हो परन्तु उसकी पदावली कोमल और भावपूर्ण हो तो भट्टजी उसे निस्संकोच बड़े चाव से पढ़ते और पढ़ाते थे। मुझे खूब याद है कि एक दिन किसी ने उनसे जयदेव के गीतगोविन्द की निन्दा की और कहा कि वह किसी सभ्य पुरुष के पढ़ने लायक नहीं है। बस फिर क्या था! भट्टजी उबल पड़े। बोले, "भैया, बताओ काहे पढ़ै लायक नहीं न? ऊ तुमरा का बिगाड़िस है? हम बहुत ऐसे सभ्य आदमियन का देखा है। गुड़ खांय गुलगुले से परहेज। हमें गीतगोविन्द बहुत पसन्द है। हम तो 'राधापीन पयोधर मर्दकै' पढ़वै। कोई का साझा है? जेका न अच्छा लगै ऊ अपने कान में ठेंठी दै ले।" इस उद्गार के भीतर एक शुद्ध

अन्तःकरण के वैष्णव की कृष्ण के प्रति अगाध भक्ति सन्निहित है। स्वयं जयदेव ने ग्रंथ के आरम्भ में कह दिया कि :

यदि हरिस्मरणे सरसं मनो यदि विलासकलासु कुतूहलम्।
मधुरकोमलकान्तपदावलिं शृणु तदा जयदेवसरस्वतीम्॥

'यदि हरि के आराधन में तुम्हारी रसपूर्ण निष्ठा है, यदि विलास की कला में (विलास में नहीं) तुम्हें दिलचस्पी है तो जयदेव की मधुर और कोमल वाणी सुनो।' उस मनुष्य को, जिसका हृदय पवित्र है, कोई हानि नहीं पहुंच सकती। 'चन्दन विष को ना गहै लपटे रहत भुजंग।'

यह तो सब हुआ, परन्तु भट्टजी की इस मनोवृत्ति की (अर्थात् परम भागवत वैष्णव होना और उच्चकोटि का साहित्यानुराग) एक मनोवैज्ञानिक पष्ठभूमि है। भट्टजी ने अपने छोटे भाई के ऊपर नालिश करके लाखों रुपया लेना अस्वीकार कर दिया इसलिए कि उस सम्पत्ति के पैदा करने में उनका कोई हाथ नहीं था। 'मैं अपने पौरुष से पैदा करके खाता हूँ' यह एक स्वाभिमानी की मनोवृत्ति होती है। भट्ट जी जब घर से अलग होने लगे तो उनके पूंजीपति छोटे भाई ने उन्हें दो मकान और कुछ नकद रुपया देना चाहा, पर उन्होंने उसे भी न लिया। अपने ही थोड़े से बर्तन और कपड़े-लत्ते लेकर अलग हो गये। 'आतिश' के शब्दों में उन्होंने सोचा होगा :

और कोई तलब अब्नाए-जमाने से नहीं।
मुझ पै अहसाँ जो न करते तो ये अहसाँ होता।

अगर भट्टजी किसी का अहसान लेना गवारा करते तो

उनके मित्र-मण्डल और भक्तों में ऐसे-ऐसे लोग थे कि उनको जीवन भर अर्थ-कष्ट न होता। परन्तु कहां भट्टजी का स्वाभिमान और कहां किसी दूसरे का अहसान लेना! अनहोनी बात थी। परन्तु छोटे भाई के साथ रहकर उनकी और उनकी श्रीमती की इतनी मानहानि हुई कि वह उन्हें असह्य हो उठी। भवभूति ने ठीक ही कहा है :

"एते हि हृदय मर्मभिदः संसारभावाः येभ्यो बीभत्समानाः सर्वान् कामान् परित्यज्य अरण्ये विश्राम्यन्ति मनीषिणः।"

संसार में ऐसी बहुत-सी हृदय-विदीर्ण करने वाली घटनाएं घटती हैं जिनसे व्यथित होकर समझदार आदमी अपनी सब कामनाओं का परित्याग कर वन में चैन पाता है। भट्टजी जब गृहस्थी से ऊब जाते तो कहने लगते "हम तो चाहत रहे कि हमरे कोई न होता और हम अकेले रहते। कौनौ ऐसी जगह मिल जाती जहाँ सेवाय पुस्तकन के और कुछ न रहता और हम बैठे पढ़ा करते।" भट्टजी ने वनवास तो नहीं किया परन्तु संस्कृत वाङ्मय के नन्दनकानन में रहने लगे। यह कहिए कि उन्हें पढ़ने का मर्ज था। कोई ऐसा विषय नहीं था जिसपर आपने पुस्तकें न पढ़ी हों। वेद, उपनिषद्, दर्शन, न्याय, मीमांसा, ज्योतिष, प्रायः सभी विषयों की पुस्तकें आप पढ़ते और उनपर मनन करते थे। 'हिन्दी प्रदीप' में इन विषयों पर आपके लेख इसके साक्षी हैं। अपने जीवन में आपने सब पुराणों को पढ़ डाला। कई तो उनमें ऐसे थे जैसे महाभारत, विष्णुपुराण इत्यादि जिनकी तो उन्होंने कई आवृत्तियाँ कर डाली थीं। श्रीमद्भागवत तो सामनेवाली आलमारी पर सदैव रहती

थी और उसका वे पाठ किया करते थे । परम भागवत भट्टजी की इस निष्ठा और साहित्यानुशीलन में अनुराग का एक कारण और भी था । भट्टजी का शैशव ननिहाल में बीता । ननिहाल पण्डितों का परिवार था, वहाँ का वातावरण सांस्कृतिक था । भट्टजी का खेल-कूद में मन नहीं लगता था । जहाँ कहीं कथा-वार्ता होती थी वहाँ वे अवश्य सुनने जाते थे । बारह वर्ष की उम्र तक उन्हें एक काण्ड अमरकोश और तद्धितान्त सिद्धान्त कौमुदी कण्ठस्थ हो गई थी । किसी अँगरेज बाल-शिक्षाशास्त्री ने कहा है कि Give me the first six years of a boy's life and I do not care who has the rest. मुझे बालक के जीवन के पहिले छः वर्ष दे दो, फिर मुझे इसकी परवाह नहीं कि उसका बाकी जीवन किसके हाथ में रहेगा । विक्टर ह्यूगो ने कहा है "All the crimes of man begin with the Vagrancy of childhood" मनुष्य के जितने पाप हैं उनकी उत्पत्ति बचपन की आवारगी से शुरू होती है । ये मूल सिद्धान्त इतने सत्य हैं कि इनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती । जिस सांस्कृतिक एवं पवित्र वातावरण में भट्टजी के शैशव में उनका लालन-पालन एवं प्रारम्भिक शिक्षण हुआ था उससे प्रथम सिद्धान्त की पूर्त्ति हो गई और दूसरे की कोई आशंका न रह गई ।

इस प्रकार संस्कृत की सुदृढ़ नींव भट्टजी के शैशव में ही उनकी ननिहाल में पड़ गई । परन्तु संस्कृत वाङ्मय का भंडार तो अगाध और अनन्त है । उसमें अवगाहन के लिए भट्टजी का जिज्ञासु हृदय फटफटाता रहता था । संयोग से यह सुयोग

उपस्थित हो गया। भट्टजी की ननिहाल से थोड़ी ही दूर पर महामना मालवीयजी का परिवार रहता था। उस समय महामनाजी बहुत छोटे थे। इस परिवार में संस्कृत के एक उद्भट विद्वान् थे। साहित्य और व्याकरण दोनों ही के वे चोटी के पण्डित थे। इनका नाम था पं० गदाधर मालवीय। ये महामना मालवीयजी के पितृव्य थे। भट्टजी में जो साहित्य का ओज था वह सब गदाधरजी की कृपा का फल था।

संस्मरणों की गतिविधि बड़ी विलक्षण होती है। वे स्मृति के साथ आँखमिचौनी खेलते रहते हैं। छोटे-छोटे, मालूम नहीं कितने संस्मरण मनुष्य के मस्तिष्क की भूल-भुलैया में किस तह में दुबके पड़े रहते हैं कि बेचारी स्मृति बहुत खोजने पर भी उन्हें पकड़ नहीं पाती। हाथ से छटके हुए पैसे की तरह जमीन के किसी अज्ञात कोने में छिप जाने की उनमें क्षमता होती है। ढूँढ़ने से नहीं मिलते। कभी अनायास आप ही आप मिल जाते हैं। इन्हीं कारणों से संस्मरणों का क्रमबद्ध होना असम्भव होता है। ऐसा ही एक संस्मरण बातों ही बातों में याद आ गया, कहता हूँ। सन् १९०९ की बात है जब मैं बी० ए० में पढ़ता था। हमारे संस्कृत के प्रोफेसर थे महामहोपाध्याय गंगानाथ झा। प्रति वर्ष विजयादशमी के बाद सरस्वती पूजन के दिन उनके यहाँ संस्कृत के किसी एक नाटक का अभिनय होता था, कभी अभिज्ञान शाकुन्तल, कभी उत्तर-रामचरित कभी किसी और नाटक का। समयाभाव के कारण एक ही अंक हो पाता था। उस वर्ष उत्तररामचरित के प्रथम अंक का अभिनय हुआ था। एम० ए० तक के छात्र उसमें

अभिनय करते थे। मध्याह्न तक तो लड़के सरस्वती पूजन के महोत्सव में जुटे रहते थे। उसके बाद नाटक का काम बड़े ज़ोर-शोर से शुरू होता था। रंगमंच तो एक दिन पहिले ही बन-कर तैयार हो जाता था। कोई लड़का शहर से कई कमण्डलु बाइसिकिल पर लटकाये हुए खड़खड़ाता हुआ भागा आ रहा है, तो कोई छात्र अपने घर ही से वशिष्ठ का रूप बनाकर बड़ी-सी सफेद दाढ़ी लटकाये बाइसिकिल पर चला आ रहा है! सफेद दाढ़ी इसलिए कि भवभूति ने कहा है "जीर्ण कूर्च्चा-णाम्"। बड़ा कहकहा लगा। पण्डितजी भी लड़कों के साथ मिलकर ताली पीटकर हँसने लगे। हमने एक दिन पहिले ही भट्टजी से इस अभिनय के सम्बन्ध में कहा था। उन्होंने हमसे कहा था "भैया, हमें जरूर लेवाय चलेव।" पाठक इसे याद रक्खें कि यह १९०९ की बात है। भट्टजी के देहावसान से पाँच वर्ष पहिले की, जब उनकी उम्र ६६ वर्ष के ऊपर थी, जब वे बैसाखी के सहारे चलते थे और आँख से लाचार थे। ऐसी हालत में उत्तररामचरित के केवल एक अंक के देखने का ऐसा अदम्य उत्साह! मैं उन्हें लेकर रात्रि में वहाँ गया। अभिनय आरम्भ होने ही वाला था। जेनिंग्स साहब की प्रतीक्षा हो रही थी। जेनिंग्स साहब उस समय म्योर सेंट्रल कालेज के प्रिंसिपल थे। कड़े शासक थे। उनकी तूती बोलती थी। छात्र उनका रोब मानते थे। ये छात्र आजकल के विश्व-विद्यालयों के छात्रों की तरह उच्छृंखल नहीं थे। उनमें अध्यापकों के प्रति विनय था। अभिनय के लिए छात्रगण उतावले हो रहे थे। भट्टजी को साथ लेकर हम आगे की सीट

से कुछ पीछे बैठ गये थे। इतने में जेनिंग्स साहब ठीक समय से आ गये। एकदम कोलाहल बंद हो गया और सब ओर निस्तब्धता छा गई। अभिनय आरम्भ हो गया। भट्टजी बड़े चाव से सुनने लगे। उनकी आँख कमजोर थी। कान से सुनते थे और बुद्धि से देखते थे। शास्त्र कहता भी है :—

गावो घ्राणेन पश्यन्ति, वेदैः पश्यन्ति पण्डिताः।
चारैः पश्यन्ति राजानः चक्षुर्भ्यामितरे जनाः॥

'जानवर सूँघकर देखता है, पंडित वेद के द्वारा, राजा गुप्तचरों के द्वारा और साधारणजन आँखों से देखते हैं।' 'इषौ गतात्मा न ददर्श पार्श्वे' जैसे इषुकार (तीर बनाने वाला) तीर बनाते समय उसमें लीन हो जाता है और इधर-उधर नहीं देखता उसी तरह भट्टजी सुनने में निमग्न थे क्योंकि आँख से तो उनको कम देख पड़ता था। इतने में मंच पर से एक पात्र ने, जो राम बना था, पढ़ा :—

एतस्मिन् मदकलमल्लिकाक्षपक्ष-
व्याधूतस्फुरदुरुदण्डपुण्डरीकाः।
वाष्पाम्भःपरिपतनोद्गमान्तराले
संदृष्टाः कुवलयिनो भुवो विभागाः॥

लक्ष्मण किसी चित्रकार के बनाये हुए पूर्वचरित सम्बन्धी चित्रों को रामचन्द्र और सीता को दिखला रहे हैं। पम्पासर के चित्र को देखकर रामचन्द्र कहते हैं। 'यह वही सरोवर है जिसके किनारे बैठकर हम तुम्हारे (सीता के) विरह में प्रमुक्त कण्ठ रोये थे और आँसुओं के बहने और थमने के बीच हंसों के पंख फड़फड़ाने से लम्बे नालवाले श्वेत कमल जब

इतस्ततः बिखर जाते थे तो उनके बीच से पम्पा का वह विभाग जहाँ नील कमल फूले थे, दिखलाई पड़ने लगता था।'

भट्टजी इस श्लोक को सुनते ही गद्गद हो गये और उस निस्तब्धता में थोड़ा जोर से बोल उठे "बृजमोहन! भवभूति ने इस श्लोक में कमाल कर दिया है।" जेनिंग्स साहब तथा जितने लोग वहाँ उपस्थित थे सबों की गर्दन भट्टजी की ओर घूम गई। पं० गंगानाथ जी मुसकराकर जेनिंग्स साहब के कान में कुछ कहने लगे। जेनिंग्स साहब भी मुसकरा दिये और हँसी को रूमाल से पोंछकर जेब में रख लिया। अभिनय ठाठ-बाट से चलता रहा। राम का पार्ट कर रहे थे श्रीकृष्ण जोशी एम० ए० के एक कुशल विद्यार्थी। "अद्वैतं सुख दुःखयोः" पढ़ते समय मंच पर उन्हें उस श्लोक का चतुर्थ चरण भूल गया। विद्यार्थी था सुपठित और चतुर। उसने तत्काल उत्तर-चरित के ही उस छंद के किसी दूसरे श्लोक का चतुर्थ चरण उसमें जोड़ दिया। ९० प्रतिशत आदमियों को तो कुछ पता ही न चला। पं० गंगानाथ जी ताड़ गये और मुसकराने लगे। जेनिंग्स साहब और शायद श्री होमरशैम काक्स (गणित के प्रोफेसर और धुरंधर विद्वान्) भी उपस्थित थे, संस्कृत से अनभिज्ञ होने के कारण पगुराते रह गये। केवल भट्टजी का मुंह बैरी था। वे बोल उठे "ई का कह गयेव भैया। ई दुसरे श्लोक का चतुर्थ चरण काहे जोड़ दिहेव?" हमने धीरे से उनका हाथ दबाया और फुसफुसाकर कहा "चतुर्थ चरण भूल गवा रहा, अच्छै किहिस जो अपनी इज्जत बाल-बाल बचाय लिहिस।" भट्टजी हँसने लगे। उपस्थित लोग भट्टजी के

उद्गारों के सुनने के अभ्यस्त हो चुके थे। जेनिंग्स साहब के डर से चुपचाप बैठे रहे। अभिनय समाप्त हुआ। जब भीड़ छट गई तो भट्टजी ने गंगानाथजी को बधाई देते हुए कहा "आप धन्य हौ जो संस्कृत को जगाये हौ, नहीं तो एको को पूछै।" घर लौटते वक्त भट्टजी बड़े प्रसन्न थे। बोले, "भैया, अब जब फिर कोई नाटक होय तो हमें जरूर लेवाय लायेव।" मुझे इस नाटक से बड़ी प्रेरणा मिली। मेरी संस्कृत काफ़ी तेज थी। कादम्बरी शैली के लेख मैं धाराप्रवाह लिखने लग गया था। बी० ए० में मैं यूनिवर्सिटी में सर्वप्रथम हुआ था। संस्कृत के परचे में एक प्रश्न था संस्कृत में तीस लाइन का निबन्ध लिखने का। निबन्ध का विषय था 'हरिद्वार वर्णन'। मैंने कादम्बरी शैली में चालीस लाइन लिखा। उसे मैंने १९०९ में लिखा था परन्तु वह मुझे अबतक याद है। स्मरण शक्ति मेरी पैत्रिक सम्पत्ति है। चूंकि उसका भट्टजी के एक संस्मरण से सम्बन्ध है उसका एक अंश यहाँ उद्धृत करता हूँ—

"किंवा तेन जीवितेन येन एतादृशानि अव्याकुलकुरंगकुल-केलिसंकुलानि अतरुणारविंदकुड्मलमनोहराणि एलालवंगपरि-मलघ्राणबहुलानि मदकलकलविंककण्ठकूजितकलकेलिकोलाहला-कुलितानि न प्रत्यवेक्षितानि तपोवनारण्यकानि।" भट्टजी को जब मैंने सम्पूर्ण निबन्ध सुनाया तो वे फड़क उठे, बोले "कबे! सच्चौ ऐसिन चालीस लाइन लिखे है! तैं तो अब बड़ा बाज-पेयी होय गवा है!" बाजपेयी से उनका क्या आशय था यह तो मैं नहीं समझ सका, परन्तु 'तैं' शब्द के प्रयोग से जो वात्सल्य उन्होंने उड़ेल दिया उसे मैं कैसे बताऊँ, वह तो केवल

मेरा अंतःकरण ही समझ सकता है। दूसरे दिन जब मैं उनके यहाँ गया तो कहने लगे "तुम ही अकेले संस्कृत में नहीं लिख सकतेव, हमहूँ लिख सकित है। एक पत्र तुमरे नाम हम संस्कृत में लिखा रहा पर भेजा नै कि कहूँ तैं ओमे गलती न निकाल दे।" और पत्र निकालकर उन्होंने मेरे हाथों में दे दिया। पत्र थोड़ा लम्बा था और ललित संस्कृत में था। मैं भला उसमें क्या गलती निकाल सकता था! बहुत कुछ हाथ मँजा होने पर भी मैं तो उतनी ललित संस्कृत नहीं लिख सकता था। मैंने पत्र पढ़कर उन्हें लौटा दिया। इसका मुझे आज तक कचोट है कि मैंने उसे क्यों लौटाया वर्नः आज वह इस संस्मरण का अलंकरण होता।

महामहोपाध्याय पं० गंगानाथ झा के यहाँ सरस्वती-पूजन और नाटक में सम्मिलित होने से मुझे बड़ी प्रेरणा मिली और भट्टजी ने मुझे प्रोत्साहित किया। मैंने यह निश्चय किया कि प्रत्येक वर्ष मैं अपने यहाँ सरस्वती-पूजन करूँगा और यदि हो सका तो उस अवसर पर किसी नाटक के अभिनय की भी व्यवस्था करूँगा। परन्तु बी० ए० पास करने के बाद मैं एम० ए० और एल्-एल० बी० के चक्कर में पड़ गया। इसलिए नाटक की व्यवस्था तो न हो सकी पर दूसरे वर्ष सरस्वती-पूजन मैंने बड़े समारोह से किया। पिताजी उस समय जीवित थे। समारोह में खासी भीड़-भाड़ थी। भट्टजी उसके अगुआ थे। अपने शिष्य के उत्साह को देखकर गद्‌गद हो रहे थे, और जैसा उनका स्वभाव था, कुछ न कुछ विनोद की बातें करते जाते थे। मैं तो पूजन में व्यस्त था परन्तु उनके मित्रों में जो

कहकहा लगता था उससे उनका पता चलता था। मेरे पूजन कर लेने के बाद भट्टजी उठकर सरस्वती देवी के सामने नत-मस्तक हुए। मुझे ठीक तो याद नहीं परन्तु सम्भवतः उन्होंने सरस्वती के अभिवादन में नैषध का यह श्लोक पढ़ा :

पुष्पैरभ्यर्च्य गन्धादिभिरपिसुभगैश्चारुहंसेन माञ्चेत्
निर्यान्तीं मंत्रमूर्तिं जपति मयि मतिं न्यस्य मय्येव भक्तः।
तत्प्राप्तेवत्सरान्ते शिरसि करमसौ यस्य कस्यापि धत्ते
सोऽयं श्लोकान् अकाण्डे रचयति रुचिरान् कौतुकम् दृश्यमस्याः।

सरस्वती कहती हैं :—

'जो व्यक्ति, मेरा ही भक्त होकर और मुझे आत्मसमर्पण कर, पुष्प और गन्धादिक से मेरे सुन्दर हंस के साथ मेरा पूजन करता है, वह एक ही वर्ष के उपरान्त यदि किसी भी व्यक्ति के सर पर अपना हाथ रख दे तो व्यक्ति पुरुष बिना प्रयास के ललित पदों की रचना करने लग जाता है, यह चमत्कार दर्शनीय है।'

पूजन के उपरान्त प्रसाद वितरण हुआ। सर्वप्रथम प्रसाद लेकर मैं भट्टजी के पास गया। प्रसाद का आधिक्य देखकर भट्ट जी बोले "अरे, एतना जादा प्रसाद ! क भैया दुसरे साल सरस्वती-पूजन करै का इरादा नहीं न का ? घर फूँक तमासा न देखौ। ओत्तै करौ जो हमेसा सधै।" समारोह बड़े ठाठबाट से समाप्त हो गया। लोग अपने-अपने घर चले गये। इस समारोह को हुए अर्ध शताब्दी हो गई। अब जब उन दिनों को सोचता हूँ तो भवभूति का यह कथन याद आता है—

जीवत्सु तातपादेषु नवे दारपरिग्रहे।
मातृभिश्चिन्त्यमानानां ते हि नो दिवसाः गताः॥

रामचन्द्र कहते हैं :—जब हम लोगों के पिता जीवित थे, हम लोगों का नया-नया विवाह हुआ था और हमारी माताएँ हमारी चिन्ता करती थीं, हम लोगों के वे दिन अब बहुत दूर चले गये।

छः

१९०९ में बी० ए० पास करने के बाद मैंने एम० ए० और एल-एल० बी० दोनों एक साथ ज्वाइन कर लिया और कई दिन दोनों कक्षाओं में बैठा भी। परन्तु जेनिंग्स साहब ने, जो उस समय प्रिंसिपल थे, मुझे बुलाकर सलाह दी कि मुझे एक के बाद दूसरा करना चाहिए, वर्ना दोनों ही के गड़बड़ा जाने की आशंका है। मैंने उनकी बात मान ली और इस असमंजस में पड़ा कि एम० ए० करूँ या एल-एल० बी०। माँ की कही हुई कहावत की याद आई "करिये पूता सोई जामें हँड़िया खुद्बुद होय।" केवल एल-एल० बी० ज्वाइन किया। भट्टजी से संस्कृत पढ़ना पूर्ववत् चलता रहा। एल-एल० बी० में दो पुस्तकें ऐसी थीं जिनमें लम्बी-लम्बी सूचियाँ थीं। एक तो 'इण्डियन पीनल कोड' (ताज़ीरात हिन्द) दूसरा 'सिविल प्रोसीजर कोड' (दीवानी मुकदमों के नियम)। उदाहरणार्थ ताज़ीरात हिन्द के एक सेक्शन में उन जुर्मों की सूची थी जो साधारणतः तो जुर्म हैं परन्तु विशेष परिस्थिति में वे जुर्म न माने जायेंगे। उनके याद करने में कठिनाई देखकर मैंने उन्हें शिखरिणी छंद

के दो चरणों में श्लोकबद्ध कर दिया।

अन इन बोजू परजस थ्रिसिलि पृविडी कानचि बेनेकम्।

अन=Unsound mind=पागल। इन=intoxicated=नशे में। बो=bound by law=कानून से बाध्य। जू=Judge=अदालत इत्यादि।

इसी प्रकार जितने अपवाद थे उनके मुख्य अक्षरों को लेकर उन्हें छंदबद्ध कर दिया।

दीवानी के कानूनों की सूची भी इसी प्रकार मैंने छंदबद्ध कर दी। डिगरी में कौन-कौन चीज़ें कुर्क नहीं हो सकतीं, उनको वंशस्थ छंद में बाँधा। श्लोक इस प्रकार था—

नीवार कूवार तुलग्र इमप्ली
कासी पोकलसू होमो वेरि परसी।
एकसू रिसूडम रिफु मे पोपेंसी
स्टिग्रे पे आलू कोडि आल से बूकन।

नीवार=necessary wearing apparel=पहनने का कपड़ा

तुलग्र=tools of agriculture=खेती के औजार

कासी=cattle & seed=खेती के जानवर और बीज

बूकन=books of account=बहीखाता……इत्यादि।

ऊपर थोड़े से शब्दों का आशय मैंने दे दिया। इस प्रकार कितने ही श्लोक भिन्न-भिन्न छंदों में बना डाले जो अब तक याद हैं। इनसे परीक्षा में बड़ी सहायता मिली। सूची की कोई चीज छुट नहीं सकती थी और परीक्षा की थोड़ी-सी अवधि में सोचने में वृथा बहुमूल्य समय नष्ट नहीं होता था। भट्टजी

को जब मैंने ये श्लोक सुनाये तो वे बहुत हँसे। बोले "कबे, ई वनाथै तोको को सिखाइस ?" हमने कहा "पंडितजी आप ही ने। संस्कृत तो हम आपही से पढ़ते हैं।" बोले "धन्नि बहुरिया, एही हम तुम्हें सिखावा है।" भट्टजी को ये श्लोक इतने पसन्द आये कि जब साहित्यिक लोग उनके यहाँ आते थे तो मुझसे कहते थे "कबे तईं ऊ शिखरिणी और वंशस्थ फिर तो पढ़ दे" और हँसकर स्वयं कहने लग जाते थे "अनइन बोजू परजस"। मालूम नहीं कितनी बार उन्होंने हमसे पढ़वाया। मैं उनका प्रिय शिष्य था, मुझे वे पुत्रवत् मानते थे। मेरे वे गुरुदेव थे। मैं उन्हें पिता तुल्य समझता था। वे मुझसे इतने प्रभावित थे कि उनको हुआ कि मेरी जन्मकुण्डली में कोई ग्रह ऐसे स्थान में बैठा है जिसके कारण ही यह सब प्रतिभा है। अच्छे ज्योतिषी तो वे थे ही, उन्होंने मेरा जन्मपत्र माँगा। बोले "तईं अपना जन्मपत्र तो देखलाव, देखी कौन ग्रह ई सब कर रहा है।" मैं बड़े असमंजस में पड़ा। एक तो मुझे ज्योतिष में तनिक भी विश्वास नहीं था, दूसरे मेरे पास ठीक-सा जन्मपत्र भी नहीं था, तीसरे मैंने सोचा कि यदि जन्मपत्र रद्दी हुआ तो मैं इनकी नज़रों से गिर जाऊँगा। इन सब बातों को सोचकर मैंने अपना जन्मपत्र, उनके बहुत तक़ाज़ा करने पर भी, नहीं दिया। एक न एक बहाने से टालता ही रहा। एक दिन मैंने अपना जन्मपत्र उन्हें दिया पर यह कहा कि वह हमारे एक मित्र का है, जो आपको देखलाना चाहते हैं। भट्टजी ने उसे ध्यान से देखा और यह कहकर हमारे सामने फेंक दिया कि "ई दरिद्दर जन्मपत्री क का देखी।" हमने उसे उठा लिया

और अपने ग्रहों का चमत्कार समझ गया। भट्टजी 'मरते मरतान मर गये' पर मैंने अपना जन्मपत्र उन्हें कभी नहीं दिया।

मैं बराबर देखता रहता था कि लोग उनसे अपना वर्षफल बनवा ले जाते थे और दक्षिणा में कोई तो दर्जन डेढ़ दर्जन केला और कोई एक ढोली पान दे जाता था। भट्टजी उसे सहर्ष स्वीकार कर लेते थे। जब हम उनसे कहते कि उसने आपको ठग लिया तो जवाब देते "केला बहुत मीठा रहा। देख्यो नहीं रहा कितने मोटे-मोटे रहें। पान मघई रहा। कहां से पैसा लावे जो हमें दे। जितना दिहिस बहुत दिहिस" इत्यादि। उनकी सरलता की कहाँ तक मैं प्रशंसा करूँ। उस वर्षफल के इतने सस्ते में बनवा ले जानेवालों की संकीर्णता की कहाँ तक निन्दा करूँ। बात यह थी कि लोगों के तोलने का भट्टजी का काँटा ही कुछ दूसरे प्रकार का था। किया क्या जाय।

एक दिन की बात है। मैं पूर्व क्रमानुसार सन्ध्या समय भट्टजी के यहाँ गया। एल-एल० बी० ज्वाइन करने के बाद मैं उनके यहाँ रोज नहीं जाता था परन्तु हफ़्ते में दो-तीन दिन अवश्य जाता था। उस दिन जब मैं वहाँ पहुँचा तो कुछ लोग वहाँ बैठे थे। दो-तीन साहित्यिक भी थे। महाराज भोज के सम्बन्ध में चर्चा चल रही थी। भट्टजी ने कहा कि एक समय महाराज भोज के पास चार व्यक्ति गये—एक वृद्ध पुरुष, एक युवा पुरुष, एक बालक और एक युवती स्त्री। उन्होंने महाराज से एक लक्ष रुपया माँगा। महाराज भोज स्वयं ऊँचे दर्जे के साहित्यिक और संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान् थे। उन्होंने उन

चारों व्यक्तियों को श्लोक का एक चरण समस्या-पूर्ति के लिए दिया और कहा कि जो कोई इसकी सबसे अच्छी पूर्ति करेगा उसे वे एक लक्ष रुपया दक्षिणा में देंगे । समस्या थी—

क्रियासिद्धिः सत्वे वसति महतान्नोपकरणे ।

महान् पुरुषों की क्रिया-सिद्धि उनके निज के गुणों पर आधारित होती है, वाह्य सहायताओं पर नहीं ।

वृद्ध ने सूर्य की उपमा दी और कहा :—

रथस्यैकं चक्रं भुजगयमिताः सप्ततुरगाः
निरालम्बो मार्गः चरणरहितः सारथिरपि ।
रविर्गच्छत्यन्तं प्रतिदिनमपारस्य नभसः
क्रियासिद्धिः सत्वे वसति महतान्नोपकरणे ॥

सूर्य को देखो, उसके रथ में एक ही पहिया है । उस रथ के सात घोड़ों को वश में रखने का साधन, सर्पों की रास है । और फिर जिस मार्ग से रथ चलता है उसका कोई अवलम्ब नहीं है । अरुण जो सारथी है वह चरणरहित है । फिर भी इन सब बाधाओं के होते हुए, सूर्य प्रतिदिन आकाश के एक छोर से दूसरे छोर तक जाता ही तो है । इससे यह सिद्ध है कि महापुरुषों की क्रिया-सिद्धि वाह्य उपकरणों पर आधारित नहीं होती ।

युवा पुरुष ने भगवान् रामचन्द्र का उदाहरण प्रस्तुत किया—

विजेतव्या लंका चरणतरणीयो जलनिधिः
विपक्षः पौलस्त्यो रणभुवि सहायाश्च कपयः ।
तथाप्येको रामः सकलमवधीद्राक्षसकुलं
क्रियासिद्धिः सत्वे वसति महतान्नोपकरणे ॥

लंका को जीतना था परन्तु समुद्र पर कोई सेतु नहीं था। पैदल ही उसे पार करना था। रावण ऐसा बलवान् शत्रु था परन्तु रण में मदद करनेवाले बन्दर थे। इन सब कठिनाइयों के होते हुए भी राम ने सम्पूर्ण राक्षस-कुल का विनाश किया। इससे महापुरुषों की क्रिया-सिद्धि...

बालक ने अगस्त्य ऋषि का उदाहरण दिया :—

घटो जन्मस्थानं मृगपरिजनः भूर्जवसनं
वने वासः कन्दादिकमशनमेवंविधजनः।
तथाप्येकोऽगस्त्यः यदकृत कराम्भोजकुहरे
क्रियासिद्धिः..........................॥

अगस्त्य ऋषि को देखिये। उनका जन्म एक घड़े में हुआ। हिरन उनके साथी थे, वल्कल उनका वसन था, वन में उनका निवास था, कन्द-मूल, फल उनका आहार था फिर भी एक चुल्लू में वे समुद्र को पी गये। इससे स्पष्ट है कि महापुरुषों की क्रियासिद्धि...

युवती स्त्री ने कामदेव का उदाहरण दिया—

धनु पौष्पं मौर्वी मधुकरमयी पंचविशिखः
इषां कोणो बाणः सुहृदपि जडात्मा हिमकरः।
तथाप्येकोऽनंगस्त्रिभुवनमपि व्याकुलयति
क्रियासिद्धिः..........................॥

कामदेव को लीजिए। उसका धनुष पुष्पों का है जिसकी प्रत्यञ्चा भ्रमरों की है। उसके पास केवल पाँच बाण हैं और वह भी लोहे के नहीं हैं बल्कि कामिनियों का तिरछी चितवन से देखना ही बाण है और उसका मित्र निर्जीव और ठंडा चंद्रमा है फिर भी यह अंगहीन कामदेव त्रिभुवन भर को

व्याकुल किये रहता है । इससे सिद्ध होता है कि बड़े लोगों की कार्य-सिद्धि उपकरणों पर निर्भर नहीं होती ।

मैं यह सब बड़े ध्यान से सुन रहा था परन्तु मेरा चित्त साथ ही साथ किसी और तरफ लगा था । मैं स्वयं इस समस्या की पूर्ति में लगा था । मैंने नम्रतापूर्वक कहा, "मैंने भी अभी-अभी इस समस्या की पूर्ति की है । आज्ञा हो तो सुनाऊँ ।" भट्ट जी ने ईषत् हास्य से कहा "का किहे है, सुनाव ।" भट्टजी का उदाहरण देते हुए मैंने कहा—

"जराग्रस्तं विप्रं झटिति कमला दुर्विलसितं
वसन्तं लोकेऽस्मिन् गृहजनभरेणाति मथितम् ।
तथाप्येनं धत्ते निजपतिमनादृत्य यदि वाक्
क्रियासिद्धिः सत्वे वसति महतान्नोपकरणे ॥

एक तो ब्राह्मण, दूसरे वृद्ध और फिर निर्धन, स्वयं मर्त्य-लोक में रहनेवाले और गृहस्थी के भार से पीड़ित । इतने पर भी यदि स्वर्ग में रहने वाली सरस्वती देवी अपने पति विष्णु का अनादर कर इनके (भट्टजी के) साथ रहती हैं तो यही कहना पड़ेगा कि महापुरुषों का उत्कर्ष उनके निजी गुणों पर निर्भर होता है, उपकरणों पर नहीं ।

उपस्थित सज्जनों ने तो मेरी प्रशंसा की परन्तु भट्टजी बोले, "अरे ! तैं तो बड़ा बाजपेयी होय गवा है । भोज के सामने पढ़त्यो तो एक लाख रुपया तुम्हई का मिलता । हमसे का मिली ।" लोगों के प्रशंसा करने से हम प्रोत्साहित तो हो ही चुके थे, बोले, "पण्डितजी एक श्लोक हमने और बनाया

है। कहिये तो कहैं" भट्टजी बोले "हाँ हाँ का बनाये हैं सुनीं"। हमने कहा—

कोऽप्येष बुद्धिनिकषः खलु बालकृष्णः
यो नामशेषानिव नः करोति।
अद्यास्तमेतु भुवि पण्डितराजशब्दः
साहित्यगर्वितजनाः शममद्य यान्तु ॥

'पंडित-समाज कहता है कि यह कौन बुद्धि की कसौटी बालकृष्ण है जिसने हम लोगों को नामशेष कर डाला है। अब रही क्या गया ? संसार में पंडितराज शब्द को तो अब अस्त हो जाना चाहिए और साहित्य के गर्व से फूले हुए पंडितों को अब शान्त हो जाना चाहिए।' मैंने समझा था कि इस श्लोक की बड़ी प्रशंसा होगी। परन्तु भट्टजी बोल ही तो उठे "कहो तो तुमरी पोल खोल देई" पेश्तर इसके कि हम कहने पावैं कि 'क्रोधं प्रभो संहर संहरेति' भट्टजी ने कही तो डाला "ई श्लोक तो तैं भवभूति से चुराये हैं। ओही के एक श्लोक का तोड़-मरोड़ के और कुछ अपना मिलाय के अपनाय लिहे" और उत्तरचरित के उस श्लोक को पढ़ भी दिया। दाई से भला पेट कैसे छिप सकता था। बात उन्होंने ठीक ही कही थी। हमारा मुँह छोटा-सा हो गया। समस्या-पूर्ति करने का मज़ा किरकिरा हो गया। मुझे इसे पहिले से समझ लेना चाहिए था, क्योंकि जब कभी मैं उनके पास किसी भी काव्य का कोई ललित श्लोक सुनाने जाता था—यह समझकर कि शायद उन्हें न मालूम हो —तो हमेशा वह उस श्लोक को स्वयं दोहरा देते थे, या उसके दो एक चरण तो पढ़ ही देते थे। इतना विशद उनका

अध्ययन था और इतनी प्रखर थी उनकी स्मरणशक्ति।

बी० ए० में मैंने फिलासफी का विषय लिया था, हालाँकि उससे मुझे नफरत थी। यही कारण है कि मैं छायावादी कविता से घबराता हूँ। छायावाद को, सही या ग़लत, मैं साहित्य की फिलासफी, समझता हूँ। फिर भला वह कैसे मेरी समझ में आवे और कैसे मेरा मन उसमें रम सके। फिलासफी के हमारे प्रोफेसर थे श्री रैंडेल। नाटे कद के आदमी, बहुत कम बोलने वाले और वह भी बहुत धीरे-से। क्लास में वे केवल इतना जोर से बोलते थे कि उनकी आवाज छात्रों के कान तक कठिनता से पहुँच सके। हँसने से उनका कोई ताल्लुक़ न था। कभी-कभी सिर्फ मुसकरा देते थे। ज्यादातर वह कुछ न कुछ सोचते ही रहते थे। स्वभाव उनका बहुत ही सरल था। अँग-रेज़ियत उनमें तनिक भी न थी। मुझे बहुत मानते थे, मालूम नहीं क्यों। हालाँकि इम्तेहान में वे मुझे सबसे कम मार्क्स देते थे। वार्षिक परीक्षा में साइकालोजी के पेपर में वे ही परीक्षक थे। उन्होंने सात सवाल दिये थे। मैंने उन सातों सवालों के सही-सही उत्तर दिये थे। मेरे उत्तर में रैंडेल साहब क्या, उन के गुरु भी कोई गलती नहीं निकाल सकते थे परन्तु जब परीक्षा फल निकला और कापियाँ लौटाई गई तो मैंने देखा कि मेरी कापी पर उन्होंने यह लिखा था $\frac{33 \text{ or } 34}{100}$ Tremendous memory work. It is all of William James and nothing of Braj Mohan in the answers.

(सौ में ३३ या ३४ नम्बर। गजब की रटंत। उत्तरों में

सब का सब विलियम जेम्स की किताब का है, ब्रजमोहन का कुछ भी नहीं है।)

मैं कुछ समझ न सका कि ३३ या ३४ उन्होंने क्यों लिखा, या तो ३३ देते या ३४। सोचा, मन्तक़ी आदमी ठहरे, राय कायम न कर सके होंगे। रैंडेल साहब के सम्बन्ध में थोड़ा विस्तार से इस कारण लिखा कि आगे चलकर भट्टजी को ऐसी मनोवृत्तिवाले आदमी से पाला पड़ा। रैंडेल साहब जानते थे कि मैं संस्कृत में बहुत तेज हूँ। एक दिन वे मुझसे कहने लगे कि संस्कृत दर्शन पढ़ने के लिए वे एक पंडित चाहते हैं और वे हफ़्ते में केवल एक या दो दिन ही पढ़ेंगे। यह मुझे नहीं मालूम था कि रैंडेल साहब थोड़ी संस्कृत भी जानते हैं। मुझे याद नहीं कि उन्होंने कितना वेतन देने के लिए कहा था परन्तु इतना याद है कि जो कुछ उन्होंने कहा था उससे बहुत कम पर भट्टजी स्वीकार कर लेते। मैंने भट्टजी से कहा। जब उन्हें मालूम हुआ कि रैंडेल साहब सरल स्वभाव हैं और उनमें अँगरेज़ियत तनिक भी नहीं है, उन्होंने तुरन्त स्वीकार कर लिया। अध्यापन आरम्भ हो गया। भट्टजी टाँगे पर नियमित दिन और समय पर जाते थे। वैसाखी साथ में रहती थी। पहिले ही दिन से दोनों की पटरी खूब बैठ गई। पढ़ा चुकने के बाद भट्टजी उनसे इधर-उधर की बहुत सी बातें करते जिससे दोनों का बड़ा मनोरंजन होता था यद्यपि यह बातचीत प्रायः एकतरफा हुआ करती थी, क्योंकि भट्टजी स्वभावतः बहुभाषी थे और रैंडेल साहब अत्यन्त अल्पभाषी, 'नहीं के बराबर।' इसपर मुझे एक छोटा-सा

चुटकुला याद आ गया। एक अँगरेज पिता पुत्र में बात हो रही थी।

Son—Daddy, what is a dialogue ? (पिताजी, 'डायलाग' किसे कहते हैं ?)

Father—Sonny, a dialogue is a talk between two persons (पुत्र ! दो व्यक्तियों के बीच बातचीत को 'डायलाग' कहते हैं)

Son—Daddy, then the talk between you and my mother is a dialogue. (पिताजी, तब तो आपके और माताजी के बीच जो बातचीत होती है वह 'डायलाग' है।)

Father—No, Sonny, it is a monologue, Because it is your mother who always goes on talking. I have to remain silent. (नहीं पुत्र, उसे 'मानोलोग' कहते हैं क्योंकि तुम्हारी माँ हमेशा बोलती रहती हैं। मुझे चुप रहना पड़ता है।)

कुछ इसी प्रकार भट्टजी की और रैंडेल साहब की बातचीत हुआ करती थी। एक दिन पूर्व क्रमानुसार भट्टजी वहाँ गये। उस दिन मंगलवार था। पढ़ चुकने के बाद रैंडेल साहब ने भट्टजी से कहा कि आज उन्हें लखनऊ जाना है। भट्टजी ने कहा कि आज तो दिक्शूल है। मंगल और बुध को उत्तर की यात्रा न करनी चाहिए। यदि बहुत आवश्यकता हो तो थोड़ा-सा चावल और एक चाँदी का टुकड़ा दान करके किसी ब्राह्मण को देकर जाइये। पूछने पर कहा कि आध पाव चावल और

एक चाँदी की दुवन्नी पर्याप्त होगी। रैंडेल साहब ने सेर भर बढ़िया बासमती चावल मँगवाया और उसपर एक रुपया रक्खा। भट्टजी ने कहा कि इतना तो बहुत जादा है पर रैंडेल साहब न माने। भट्टजी ने मंत्र पढ़कर दान करा दिया। रैंडेल साहब उसे भट्टजी को देने लगे। भट्टजी कहने लगे "हमने अपने लिए थोड़े ही कहा था।" रैंडेल साहब ने कहा कि "भट्टजी, आप भी तो ब्राह्मण हैं, क्या हानि है।" भट्टजी ने ले लिया। दूसरे दिन हम लोगों से यह सब वृत्तान्त बतलाया। कहने लगे "रैंडेल बड़ा सीधा है। दिशाशूल की बात मान लिहिस। बासमती चावल बड़ा बढ़िया रहा। हम अपने लिए थोड़े कहा रहा। जब हमरेन गरे लगाइस तो हम का करी। और ओ बखत हुँआँ कौनौ ब्राह्मणौ तो नहीं रहा। सेंत का थोड़ौ लिया। मंत्र पढ़ा रहा न।" इस प्रकार जब तक रैंडेल साहब प्रयाग में रहे, यह अध्यापन कार्य चलता रहा। प्रयाग से चले जाने के बाद रैंडेल साहब से भट्टजी की भेंट लखनऊ में एक बार और हुई। भट्टजी किसी कार्यवश लखनऊ गये थे। हज़रतगंज में उन्होंने देखा कि रैंडेल साहब थोड़ी ही दूर पर पैदल जा रहे हैं। बैसाखी पर उन्हें पकड़ पाना असम्भव देखकर भट्टजी ने उन्हें बड़े जोर से पुकारा "ओ रैंडेल साहब! ओ रैंडेल साहब!" रैंडेल साहब रुक गये। भट्टजी को देखकर लौट पड़े। परस्पर अभिवादन के बाद भट्टजी बोले "भैया, बहुत दिन पर तुम्हें देखा। मन भवा कि तुमसे मिल लेई।" शिष्टाचार के बाद दोनों विदा हुए। रैंडेल साहब से यह उनकी अन्तिम भेंट थी।

सन् १९०२ या १९०३ की बात है। शहर में प्लेग जोरों

से फैला था। रोज सैकड़ों आदमी मरते थे। लोग अपना-अपना घर छोड़कर बाहर भाग गये थे। शाम के बाद सूर्यकुंड से चौक की तरफ देखने में डर मालूम होता था। दिन में भी एक्के-दुक्के एक्के चलते दिखाई पड़ते थे; नाम को दस-पाँच दूकानें खुलती थीं। हमारा परिवार भी घर में ताला डालकर शहर से पाँच मील पर चैथम लाइन में, गंगातट पर बनी हुई, ददुआ साहब की विशाल कोठी में चला गया था। कोठी तो विशाल थी ही, उसका सागिर्दपेशा बहुत बड़ा था। उसमें उनके लश्कर के ठहरने के लिए कई बड़े-बड़े कमरे थे और हाथी-घोड़ों को बाँधने के लिए बहुत-से पक्के घुड़साल और फीलखाने थे। इन सबों में प्रयाग के कई प्रतिष्ठित परिवारों ने प्लेग से भागकर शरण ली थी। मुख्य कोठी के दो कमरों में पहिले से एक पंजाबी सरदार एकाकी रहा करते थे। ये बहुत ही सज्जन और भले थे। शिकार का इन्हें व्यसन था। इनके पास उस समय बारह शिकारी कुत्ते भी थे। अतः यद्यपि कोठी निर्जन स्थान में थी, सुरक्षा का अच्छा खासा प्रबन्ध था। जो परिवार वहाँ आकर टिके थे उनमें भट्टजी का भी परिवार था। पं० सरयूप्रसाद मिश्र भी अपने तीनों पुत्रों पं० हरिमंगल मिश्र, मधुमंगल मिश्र और पं० श्रीमंगल मिश्र के सहित रहते थे। पं० सरयूप्रसादजी धुरंधर वेदान्ती थे। स्वभाव के भयंकर क्रोधी। दो क्रोधी व्यक्तियों का वहाँ संगम था। एक भट्टजी दूसरे सरयूप्रसादजी। एक 'अन्त प्रसुप्तदहन :' दूसरे 'उत्तालतुमुललेलिहान।' उस विशाल कोठी और सागिर्दपेशे में सब मिलाकर ११२ व्यक्ति रहते थे। सन्ध्या समय जब सब

लोग एकत्र होते थे तो अच्छी-खासी भीड़ हो जाती थी। उस समय हमारे पिता और पितामह जीवित थे। पितामह पं० लक्ष्मीनारायण व्यास हमारे नगर के प्रमुख वैद्य और मनसा वाचा कर्मणा पवित्रात्मा थे। पिता हमारे डा० जयकृष्ण व्यास डाक्टर थे और भट्टजी के अनन्य मित्रों में थे और संस्कृत के प्रेमी थे। हमारे पितामह ने यह प्रस्ताव किया कि इस प्रवास में संध्या समय वहाँ कथावार्ता तथा पंडितों के प्रवचन हुआ करें। सबों को यह बात पसन्द आई और कथा-वार्ता होने लगी। मंदाकिनी के तट पर, प्राकृतिक सौंदर्य के बीच कथा-वार्ता के समारोह से वह रम्य स्थल लहलहा उठा। कभी भट्टजी, कभी सरयूप्रसादजी, कभी हमारे पितामह तथा अन्य लोग प्रवचन करते थे। एक दिन की बात है पं० सरयू-प्रसादजी शंकर पर प्रवचन कर रहे थे। श्रोतागण निस्तब्ध सुन रहे थे। भट्टजी बीच-बीच में "धन्य है, धन्य है" बोल उठते थे। प्रवचन करते समय सरयूप्रसादजी एक विषय-विशेष पर शंकर के सिद्धान्त का प्रतिपादन करने लगे। भट्टजी शंकर के उस सिद्धान्त से सहमत नहीं थे। पहिले तो धीरे-धीरे कुड़मुड़ाते रहे। फिर एकदम उबल पड़े। बोले "शंकर रहे खूसट, एही सिद्धान्त तो देश का नाश किहिस है" उनका कहना था कि सरयूप्रसादजी क्रोध से भरे उठ खड़े हुए और गरजकर बोले "पिता को गाली देता है। तेरा सर तोड़ डालेंगे। जानता नहीं कि हम बनरसिया है।" भट्टजी उतना ही गरजकर बोले "सिर का तोड़बो, ठीकै तो कहित है। हमसे जादा तुम शंकर के भक्त का होबो। पर हम कौनौके अन्धभक्त नहीं न,

जैसे तुम हौ। जैमे जो बुरी बात होई, हम जरूर कहबै। बुरा मानौ तो हमरे ठेंगें से। जो देत होयेव न दिहेव।" सर तोड़ने की पुनरावृत्ति दो-एक बार होने के बाद पं० सरयूप्रसादजी यह कहते हुए चले गये कि "इस सभा में अब कभी न आवैंगे।" सरयूप्रसादजी को प्रतिज्ञा करने और उसपर दृढ़ रहने का मर्ज़ था। यद्यपि प्रायः कथा-वार्ता पूर्ववत् चलती रही पर वे एक दिन भी न आये। हमारे पितामह ने बीच-बिचाव करने का प्रयास किया परन्तु वह निष्फल रहा। भट्टजी को सरयूप्रसादजी के नाराज हो जाने का तनिक भी क्षोभ नहीं था परन्तु हमारे पितामह को, जिन्हें वे बड़े आदर की दृष्टि से देखते थे, इस योजना में विक्षेप होने का बड़ा खेद रहा। हमारे पितामह से वे कहने लगे "आपै बताओ महराज, एमे हमरा का कसूर रहा। जो हमें ठीक समझ पड़ा ऊ कहा। ओमे सरयूप्रसादजी काहै चिटकै लगें। जो व्यक्ति दूसरे के दृष्टिकोण को सहन नहीं कर सकता वह पंडित भले हो उसे सुधी नहीं कहा जा सकता।" मैं वहाँ पर खड़ा सब देख-सुन रहा था परन्तु मेरी समझ में कुछ न आया। केवल इतना ही समझ में आया कि एक बेबात की बात का बतंगड़ हो गया और दो बुड्ढे आपस में खामखाह लड़ गये। मैं छोटा तो था ही, इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि बुड्ढों में लड़कों सी भी बुद्धि नहीं होती।

सात

यह पहिले कहा जा चुका है कि बचपन ही से भट्टजी को कथा-वार्ता सुनने का बड़ा प्रेम था। गृहस्थी, नौकरी तथा 'हिन्दी-प्रदीप' के सम्पादन में व्यस्त रहने के कारण ऐसे अवसर कम आते थे कि कथा-वार्ता सुनने में वे समय दे सकें। फिर भी यदि उन्हें पता चला कि नगर में कोई सुपठित कथावाचक आया है तो वे उसकी कथा सुनने अवश्य जाते थे। लगभग १९०५ की बात है कि एक कथावाचक पंडित प्रयाग में आये। लोगों ने उनकी कथा का आयोजन भारती-भवन पुस्तकालय के सामने खुली जगह में किया। पंडितजी अधेड़ और भव्य आकृति के थे। वेशभूषा एवं उच्चारण से वे दाक्षिणात्य मालूम होते थे। अपठित दाक्षिणात्यों का भी उच्चारण प्रायः ऐसा होता है जैसे वह शुद्ध उच्चारण करते हों। दारागंज में एक दाक्षिणात्य रहते थे जिनसे मेरा घनिष्ठ परिचय था। वे 'बैजनाथ' को 'वइजनाथ' कहते थे और थ के बाद थोड़ा विराम भी रखते थे। भारती-भवन के सामने इन पण्डितजी की कथा खूब जमी। थोड़ी-थोड़ी देर में उदाहरण के रूप में वे कोई न कोई

श्लोक अवश्य कहते थे और उसे गाकर पढ़ते थे। कथा-सम्बन्धित गीत भी बड़ी मनोहर ध्वनि से साज के साथ गाते थे। उनकी विशेषता थी मधुर कण्ठ, संस्कृत के शब्दों का शुद्ध उच्चारण, चाहे संस्कृत अशुद्ध हो। इनकी प्रशंसा भट्टजी तक पहुँची। एक दिन मुझे लेकर वे कथा सुनने गये। कथावाचक, भट्टजी को दूर ही से देखकर ताड़ गये कि आज कोई पारखी कथा सुनने आया है। कथावाचक ने उस दिन कथा बड़ी रुचि से कही जिसमें श्लोकों की भरमार थी। ये श्लोक प्रायः भट्टजी के जाने हुए थे परन्तु उन्हें कथा-प्रसंग में उपयोग करना उन्हें बहुत पसन्द आया। गरीबों का वर्णन करते हुए कथावाचक ने यह श्लोक पढ़ा—

> निद्राति, स्नाति, भुंक्ते, चलति, कचभरं शोषयत्यन्तरास्ते
> दीव्यत्यक्षैः, न चायं गदितुमवसरो भूयमायाहि, याहि।
> इत्युद्दण्डैः प्रभूणामसकृतधिकृतैः वारितान् द्वारदीना-
> नस्मान् पश्याब्धिकन्ये सरसिजरुहैरन्तरंगैः कटाक्षैः॥

एक गरीब लक्ष्मी से कहता है कि "हे अब्धिकन्ये! तुम अपने अन्तरंग कटाक्ष से हमारी ओर देख दो तो हमारा दुख-दारिद्रच दूर हो जाय। जब हम अमीर लोगों की ड्योढ़ी पर जाते हैं तो उन नृशंस पूँजीपतियों के उद्दंड पहरेदार यह कहकर दुरियाय देते हैं कि 'मालिक इस समय सो रहे हैं, स्नान कर रहे हैं, भोजन पर बैठे हैं, बाहर गये हैं, बाल सँवार रहे हैं, जनाने में हैं, चौसर खेल रहे हैं, इस समय उनसे कुछ कहने का अवसर नहीं है, फ़िर आना, अभी जाव।' अब अवज्ञा सहन नहीं होती।" भट्टजी इस श्लोक को ध्यान से सुनते रहे। फिर मालूम नहीं,

उनके हृदय में पुरसों गड़ी हुई किस भावना ने उन्हें कुरेदा कि वह मुझसे कहने लगे "पिनसिल कागद होय तो इ श्लोक लिख लेव"। 'कौवा से कबिलवा सयाना होता है।' मैं कागज पेन्सिल पहिले ही से लेकर गया था। जब कथावाचक गाकर उस श्लोक को दुहराने और अर्थ करने लगे तो मैंने उसे लिख लिया। भट्टजी मुझसे फिर कहने लगे "कादम्बरी में जो शुकनास लक्ष्मी की पोल खोलिन है ऊ याद है न"। मैंने कहा "हाँ"। बोले "एही से तो हम लक्ष्मी का हमेशा दुतकारत रहे"। भट्टजी का संकेत शुकनास के उस उपदेश की ओर था जिसे उन्होंने युवराज चन्द्रापीड़ को लक्ष्मी के दुर्गुणों को दिखलाते हुए उससे सचेत रहने के लिए कहा था। उसका अंश यह है :—

"इयं हि सुभटखड्ग मण्डलोत्पलवनविभ्रमभ्रमरी लक्ष्मीः क्षीरसागरात् पारिजातपल्लवेभ्यो रागम्, इन्दुशकलादेकान्तवक्रताम्, उच्चैःश्रवसश्चंचलताम्, कालकूटान्मोहनशक्तिम्, मदिराया मदम्, कौस्तुभमणेरतिनैष्ठुर्य्यम् इत्येतानि सहवासपरिचय-वशाद्विरहविनोद-चिह्नानि गृहीत्वेवोद्गता।"

भावार्थ है कि यह लक्ष्मी रणभूमिरूपी उद्यान की भ्रमरी है, जरा इसके साथियों को देखो, समुद्र-मंथन के समय जब यह बाहर आई तो अपने साथ अपना परिचय देती हुई आई। पारिजात के पल्लवों से इसने तमतमाहट ली, चन्द्रमा से टेढ़ापन, उच्चैःश्रवा घोड़े से चंचलता, कालकूट से बेसुध कर देने की शक्ति, मदिरा से मद, कौस्तुभ मणि से अत्यधिक निठुरता ली। इससे सदा सजग रहना।

इसी सम्बन्ध में भट्टजी यह श्लोक भी प्रायः पढ़ा करते थे :

लक्ष्मीः यादोनिधेर्यादो नादोवादोदितं वचः ।
विभ्यती धीवरेभ्यस्सा दूराद्दूरं पलायते ॥

इस श्लोक में धीवर शब्द में अच्छा श्लेष किया गया है। एक अर्थ है विद्वान्, दूसरा है मल्लाह। कवि कहता है कि लक्ष्मी यादोनिधि अर्थात् समुद्र की यादो (जलजन्तु) है—"यादांसि जल-जन्तवः"। इसी कारण वह धीवर मे बहुत दूर भागती है। उस दिन कथावाचक ने बहुत अच्छी कथा कही और भट्टजी भी तन्मय होकर उसे सुनते रहे। किसी प्रसंग में कथावाचक ने 'स्थैर्यता' शब्द का प्रयोग किया। भट्टजी बोल उठे "स्थिरस्य भावः स्थैर्यम्, स्थैर्यता का है भैया"। मुझे ऐसा लगा जैसे कथावाचक इस पर कुछ झेंपे। पर सम्भव है यह मेरा सन्देह ही सन्देह रहा हो क्योंकि वे कुछ बोले नहीं। भट्टजी ने मुझसे धीरे से कहा "बहुत-से लोग अपनी पंडिताई छांटै के बरे स्थैर्य को स्थैर्यता, इच्छा को इक्षा, फाल्गुन को फाल्गुरण कहत हैं 'फाल्गुने गगने फेने णत्वमिच्छन्ति बर्बराः'" यह कहकर हँसने लगे। कथा समाप्त हो गयी। हम लोग अपने-अपने घर चले गये।

एक दिन भट्टजी से मैंने पूछा कि कालिदास और भवभूति में आप प्रथम स्थान किसको देते हैं? प्रश्न छोटा सा था परन्तु उसका उत्तर उतना सरल न था। जो कुछ उत्तर वे दें उसे उन्हें सिद्ध भी तो करना था। बोले "दो उच्चकोटि के कवियों का तुलनात्मक विवेचन करना बड़ा कठिन है। कोई किसी चीज में अच्छा है तो दूसरा और किसी चीज में। अतः उचित

तो यही है कि तुलना न की जाय। और फिर 'भिन्नरुचिर्हि लोकः' गुणग्राहियों की रुचि भी तो भिन्न-भिन्न होती हैं। परन्तु जब तुमने प्रश्न पूछा ही है तो अपनी रुचि के अनुसार उत्तर देता हूँ। दोनों ही नवनीत हैं परन्तु कालिदास के काव्य-नवनीत में बादशाहपुर की शक्कर पड़ी हुई है। मीठा तेज होता है और तुरन्त गले के नीचे उतर जाता है। भवभूति का काव्य भी नवनीत है, परन्तु उसमें मिसरी के टुकड़े पड़े हैं। उन्हें चबाना पड़ता है तब गलते हैं।" उदाहरण के लिए उन्होंने बताया :

सैषा स्थली यत्र विचिन्वता त्वां
भ्रष्टं मया नूपुरमेकमुर्व्याम्।
अदृश्यत त्वच्चरणारविन्द-
विश्लेषदुःखादिव बद्धमौनम्॥

कालिदास—रघुवंश॥

लंका विजय कर भगवान् रामचन्द्र सीता सहित पुष्पक पर बैठे हुए अयोध्या लौट रहे हैं। मार्ग में पूर्वपरिचित स्थानों को सीता को दिखलाते जाते हैं। राम कहते हैं 'प्रिये! यह वही स्थान है जहाँ तुम्हें ढूँढ़ते हुए मैंने पृथ्वी पर फेंका हुआ एक नूपुर देखा था। यह नूपुर तुम्हारे चरणकमल से विछोह के दुःख के कारण मौन पड़ा था।'

भवभूति का इसी टप्पे का एक श्लोक है :—

समयः स वर्तत इवैष यत्र मां
समनन्दयत् सुमुखि गौतमार्पितः॥
अयमुद्गृहीतकमनीयकंकण-
स्तव मूर्तिमानिव महोत्सवः करः॥

लक्ष्मण, राम और सीता को उनके विवाह का चित्र दिखला रहे हैं। चित्र देखकर राम सीता से कहते हैं 'हे सुमुखि ! यह वही दृश्य है जब विवाह के समय शतानन्द ने तुम्हारा हाथ हमारे हाथ में पकड़ा दिया था। उस समय जो आनन्द मुझे हुआ था वह अवर्णनीय है। तुम्हारा हाथ जो कमनीय कंकणों से अलंकृत था वह मूर्तिमान महोत्सव मालूम होता था।' भट्टजी फिर बोले "परन्तु कालिदास ने संस्कृत साहित्य को इतनी प्रचुर मात्रा में सम्पत्ति दी है कि भवभूति ने क्या और किसी भी कवि ने नहीं दी। इसलिए हम तो कालिदासै को प्रथम स्थान देबै। कालिदास का कह गये, समझना कठिन है। मल्लिनाथ ठीकै तो कहिन—

कालिदासगिरां सारं, कालिदासः सरस्वती ।
चतुर्मुखोऽथवा साक्षात् विदुर्नान्ये तु मादृशाः ॥

कालिदास की कविता केवल तीन व्यक्ति ठीक तरह से समझ सकते हैं; एक तो स्वयं कालिदास, दूसरे देवी सरस्वती, तीसरे चतुर्मुख ब्रह्माजी। हमारे ऐसी तुच्छ बुद्धिवाले भला उसे कैसे समझ सकते हैं।" यद्यपि भवभूति का मैं भक्त था परन्तु भट्टजी के तर्क के आगे मुझे नतमस्तक होना पड़ा। मुझे अकबर इलाहाबादी याद आ गये।

आप फरमाते हैं :—

मेरा यह शेर 'अकबर' एक दफ्तर है मआनी का।
कोई समझे न समझे, हम तो सब कुछ कह गुज़रते हैं॥

कालिदास का हृदय प्रेम से ओत-प्रोत था। भवभूति के हृदय में पांडित्य का आधिक्य था। अकबर का कहना है—

इश्क को दिल में दे जगह 'अकबर'।
इल्म से शायरी नहीं आती ॥

मैं यह समझा—सही या गलत—कि भट्टजी की यह राय है :

माहे-कामिल, महे-नौ दोनों हसीं हैं लेकिन ।
एक ज़रा सिन जो है कम इससे हिलाल अच्छा है ॥

भर्तृहरि के शतकत्रय में उन्हें नीतिशतक बहुत पसन्द था। कारण यह था कि उसके बहुत-से श्लोकों का उनके स्वभाव से साम्य था। परन्तु उनके साहित्य की वे एक बड़े मार्के की समालोचना अक्सर किया करते थे। भट्टजी का कहना था कि भर्तृहरि के पाण्डित्य में कोई कसर नहीं है, परन्तु उनके श्लोक प्रायः उठते तो बड़े जोर-शोर से हैं परन्तु चतुर्थ चरण उनका प्रायः कमजोर होता है। चतुर्थ चरण उतने ठाट का नहीं होता जैसे पहिले के तीन चरण। कहते थे कि चतुर्थ चरण "लद्द से गिर पड़ता है।" इसके वे कई उदाहरण देते थे। केवल एक यहां लिखता हूँ :—

व्यालं बालमृणालतन्तुभिरसौ रोद्धुं समुज्जृम्भते
छेत्तुं वज्रमणीन् शिरीषकुसुमप्रान्तेन सन्नह्यते।
माधुर्यं मधुविन्दुना रचयितुं क्षाराम्बुधेरीहते
नेतुं वाञ्छति यः खलान् पथि सतां सूक्तैः सुधास्यन्दिभिः।

'जो व्यक्ति किसी दुर्जन को मीठी-मीठी बातों से सत्पथ पर लाने की चेष्टा करता है उसका प्रयास उसी तरह बेकार होता है जैसे मस्त हाथी को कमल-नाल से बाँधना या वज्रमणि को शिरीष-कुसुम के कोमल अग्रभाग से छेदना अथवा खारे समुद्र को एक बूँद शहद से मीठा करना।'

धर्म और समाज

अकबर साहब का कहना है :—

मज़हब को शायरों से न पूछें जनाबे-शेख़ ।
जिस वक्त जो ख़याल है मज़हब भी वही है ।।
अगर मज़हब खलल अन्दाज़ है मुल्की मक़ासिद में—
तो शेखो-बरहमन पिनहा रहें दैरो-मसजिद में ।।
लफ़्जे मज़हब पर हमें हरदम अकड़ना चाहिये ।
इसके मानी यह हुए आपस में लड़ना चाहिये ।।
पंडित को भी सलाम है और मौलवी को भी ।
मज़हब न चाहिये मुझे ईमान चाहिये ।।

अकबर साहब के कई अशआर मैंने इसलिए उद्धृत किये क्योंकि मज़हब के सम्बन्ध में उनके और भट्टजी के खयालात बहुत कुछ मिलते-जुलते थे । जिस प्रकार भट्टजी एक परम-भागवत धर्मनिष्ठ वैष्णव थे उसी प्रकार महाकवि अकबर भी एक बाखुदा सच्चे मुसलमान थे । न इनमें तास्सुब था न उनमें । दोनों ही मुल्क को मज़हब पर तरजीह देते थे । पाठक यह न समझें कि भट्टजी की मैं अकबर साहब से तुलना कर रहा हूँ । मैं दोनों के फकत मज़हब सम्बन्धी खयालात की तुलना कर रहा हूँ । भट्टजी के मज़हब और धर्म को समझ पाना वास्तव में एक समस्या है । यदि मुझसे पूछा जाय तो मैं निस्संकोच कह दूँगा कि समालोचना ही उनका धर्म था । एक बार भट्टजी से किसीने पूछा कि आप किस मत के अनुयायी हैं । भट्टजी ने तुरन्त जवाब दिया "बुद्धि के" । इस छोटे से उत्तर में धर्म की ओर भट्टजी का दृष्टिकोण पूर्ण रूप से सन्निविष्ट है ।

जिससे समाज और देश का कल्याण और उन्नति हो वही उनका धर्म था। यदि उनके लेखों से कोई जानना चाहे कि वे किस मत के अनुयायी थे तो असम्भव है। वह किसी भी मत के अन्ध अनुयायी नहीं थे। उनमें नीर-क्षीर-विवेक था। सनातन धर्म की जो बातें उन्हें पसन्द थीं उनकी वे भूरि-भूरि प्रशंसा करते थे और जो उनकी समझ में बुरी थीं, जो समाज और देश के लिए अहितकर थीं उनपर वे हथौड़े की चोट करते थे, उनकी धज्जियां उड़ा देते थे। आर्यसमाज को भी वे इसी कसौटी पर कसते थे। आर्यसमाज के धार्मिक कार्यों को वे ढोंग समझते थे। तभी तो जब एक बार किसी प्रसंग में राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन ने उनसे वेद पढ़ने के लिए कहा तो भट्टजी ने यहाँ तक कह डाला कि 'बेदवा ससुर में का रक्खा है'। कोई कट्टर सनातनधर्मी यह उत्तर सुने तो समझे कि भट्टजी पागल हो गये हैं और यदि आर्यसमाजी सुन लें तो हाथापाई की नौबत पहुँच जाय। उन्हें आर्यसमाज के समाज-सुधार की बातें पसन्द थीं। कहते थे कि 'जीवन यदि किसी सम्प्रदाय या समाज में है तो वह आर्यसमाज में है।' एक बार कलकत्ते के 'भारत-मित्र' के प्रबन्धक ने जो आर्य-समाजी थे, भट्टजी से कहा "आप मेरे पत्र का सम्पादन करें, मैं आपको ७५) मासिक पारिश्रमिक दूँगा और आपके पुत्रों की शिक्षा का भार ले लूँगा, पर आपको पत्र का सम्पादन आर्यसमाज के सिद्धान्तों के अनुसार करना होगा।" भट्टजी ने तुरन्त उत्तर दिया "आर्यसमाज के सिद्धान्तों के अनुसार सम्पादन करना होगा, इसका क्या मतलब ? स्वामी दयानन्द की जो-जो

बातें अच्छी हैं उनका अनुमोदन तो हम डंके की चोट पर करते हैं और उन सिद्धान्तों के हम कायल हैं। आत्महनन करके गुलामी की बेड़ी पहिनें तो सभी आर्य-सिद्धान्त स्वीकार करें। यह हमसे नहीं हो सकता।" 'काहे को नौ मन तेल होगा, काहे को राधा नाचेंगो।' बात वहीं खतम हो गई।

उन दिनों प्रचलित सनातन धर्म की वे अकसर 'हिन्दी प्रदीप' में कड़ी समालोचना किया करते थे। एक जगह आप लिखते हैं :—

"जिसमें सात ही वर्ष की कन्या ब्याही जाय, जिसमें आठ कनौजिये नौ चूल्हे हों, जिसमें लड़कपन से क्षीर-कण्ठ बालक का ब्याह करके स्वच्छन्द जीवन का पाँव तोड़ दिया जाय...... जिसमें एक जाति वाले का छुआ भोजन कर लेने पर पतित हो जाय वह सनातन धर्म क्या विचारवान् लोगों के पोषण योग्य है ? वह हिन्दू धर्म, सनातन हिन्दू धर्म नहीं है, वह जैन धर्म की शाखा है। वह स्वार्थी, धर्मशास्त्रवहिर्मुख, यजमान-सर्वस्व, ब्राह्मणों का रुपये कमाने का इन्स्ट्रुमेंट (instrument) है, वह हिन्दुस्तान का अध:पतन करने के लिए व्यग्र है। वह प्राचीन ऋषियों का नाम डुबाने वाला षड्यन्त्र है। हम ऐसे धर्म को नमस्कार करते हैं।......हमारा सनातन धर्म वह है जिसमें गुरु गोविन्द और शिवाजी उत्पन्न हुए हैं। हमारा सनातन धर्म वह है जिसका प्रतिपादन व्यास, वसिष्ठ, गौतम, जैमिनि आदि तपोनिधि वनवासी करते थे। हमारा सनातन धर्म वह है जिसका आराधन त्रिभुवन में, त्रिकाल में सर्व जाति के लोग कर सकते हैं। वह नहीं है जिसे तीन वर्ण मात्र

भारतवर्ष भर में ही कूपमण्डूक बनकर गँदला करें। हमारा सनातन धर्म स्वाभाविक है कल्पित नहीं......।" एक जगह आप लिखते हैं :—

"गाज पड़े ऐसे धर्म पर और ऐसी समझ में, ऐसे भगोड़े धर्म को हम कब लौं बाँधकर जकड़बंद किये रहेंगे जो जरा-जरा में जी छोड़ भाग जाता है। बर्फ पी लिया धर्म गया, बाजार की मिठाई दाँत तले दाबी धर्म धूर में मिल गया, दूसरे के लोटे में पानी पी लिया भ्रष्ट हो गये......बेईमानी, फरेब, जालसाजी, झूठ बोलना इसमें तो धर्म का कुछ जिकर ही नहीं है।" ('हिन्दी प्रदीप' अगस्त १८८१, पृ० ४)

भट्टजी पहिले बल्लभकुल सम्प्रदाय के शिष्य थे और उस की कंठी गले में पहिनते थे। जब बम्बई में 'महाराजा लाइबेल केस' चला तब भट्टजी को गोसाइयों के कलुषित चरित्र से घृणा हो गई। उन्होंने कंठी उतारकर फेंक दी और 'हिन्दी प्रदीप' में गोसाइयों की बड़ी कड़ी समालोचना की।

भट्टजी सहभोजन के पक्षपाती थे पर यह जानते थे कि यह तथाकथित सनातन धर्म इसके रास्ते में इतना बड़ा पहाड़ है जिसको एकाएक लाँघना असम्भव है। उसे तो एक न एक दिन नई रोशनी का एटम बम जड़ से उखाड़ कर फेंक देगा। परन्तु उसकी जड़ तो क्रमशः खोदते ही रहना चाहिए, क्योंकि 'शनैः कंथा शनैः पंथा शनैः पर्वत लंघनम्।' उन्होंने सोचा कि हिन्दू मात्र का सहभोजन तो अभी दूर है इसलिए 'हिन्दी प्रदीप' में प्रत्येक वर्ण में सहभोजन का जोरदार आन्दोलन आरम्भ कर दिया। भट्टजी की अपनी शैली थी। वे हथौड़े की चोट

करते थे। धीरे-धीरे पिट-पिट करना उनके स्वभाव में न था। 'हिन्दी प्रदीप' में इस सम्बन्ध में आप एक जगह लिखते हैं :—

"हे कुलाभिमानी हमारे भाइयो! भूरी हाड़ की उत्तमता के अभिमान में अन्धो! हे पेड़ा छील-छील खाने वालो! हे दम्भ के अवतार! हे दक्षिणा-लोलुप! मूर्खता को गिरों रक्खे मोटी तोंद वाले पुरोहित तथा पाधाओ! हे कम्बख्ती की निशानी, अकिल के कोते! तरक्की के दुश्मन, बाबा आदम के वक्त के हिन्दुओं के बुड्ढो!......यह खाने-पीने का परहेज जिसे तुम हिन्दूपन की नाक समझ बैठे हो उसका नई रोशनी की करतूत से अब सर्वनाश होने पर आया है। इसलिए उचित है कि उसका क्रम अब कुछ ढीला कर दो, नहीं पछताओगे।

......इसमें क्या बुराई है कि ब्राह्मण-मात्र का एक सह-भोजन हो जाय। इसी तरह क्षत्रिय और वैश्य भी आपस में बेधड़क खाने-पीने लगें; ऐसे ही बारहों जाति कायस्थों तथा अन्य वर्णों की एक रोटी हो जाय। जब कोई वस्तु अधिक दाब खायगी तो अवश्य वह छिटककर अलग जा गिरेगी। नये सुशिक्षितों का एकबारगी हाथ से निकल बेकाबू और भ्रष्ट हो जाने से यह बहुत अच्छा है कि देशकाल के अनुसार समाज में उन्हें खाने-पीने में इतनी आसानी और स्वच्छन्दता दे दी जाय ......।" ('हिन्दी प्रदीप' १८८२)।

याद रहे कि यह बात उन्होंने आज से ७६ वर्ष पूर्व कही थी जब कि वे स्वयं एक धर्मनिष्ठ, परमभागवत वैष्णव थे। दूरदर्शिता की पराकाष्ठा थी। जो उन्होंने कहा था वही हुआ। भवभूति कहते हैं :—

लौकिकानां हि साधूनामर्थं वागनुवर्तते ।
ऋषीणां पुनराद्यानां वाचमर्थोनुधावति ।।

सांसारिक भले आदमी एक बात हो जाने पर उसका विवेचन तथा उसकी मीमांसा करते हैं; परन्तु वह व्यक्ति जिसमें आद्य ऋषियों की आत्मा सन्निहित है, जो कुछ वह कहता है वह आगे चलकर होता है। वह संसार की नाड़ी की गति पहचानता है, और होने वाली बात को बहुत पहिले से बता देता है।

अन्यच्च

आविर्भूतज्योतिषां ब्राह्मणानां
ये व्याहारास्तेषु मा संशयोभूत् ।
भद्रा ह्येषां वाचि लक्ष्मीर्निषक्ता
नैते वाचं विप्लुतां व्याहरन्ति ।।

भवभूति ।

ऐसे ब्राह्मण जिनमें ब्रह्मतत्व की ज्योति का आविर्भाव हुआ है उनकी भविष्यवाणी में तनिक भी संशय न करना चाहिए। इनकी वाणी में सिद्धि होती है, वे विफल बात कभी नहीं कहते।

भट्टजी के धर्म सम्बन्धी विचार बड़े उदार थे। संसार मिथ्या है, माया है, इस चक्कर में वे कभी नहीं पड़े; इसे उन्होंने कभी नहीं माना। यह उन्होंने कभी नहीं माना कि वेद अपौरुषेय हैं। उन्होंने तो स्पष्टतया एक लेख में कह दिया कि······"सिद्ध हुआ कि वेद मनुष्य-जनित है" और इसका विवेचन उन्होंने वैज्ञानिक ढंग से किया। भला ऐसी

विचारधारा टकसाली हिन्दू समाज को कैसे पसन्द आ सकती है? वह भट्टजी को नास्तिक, किरिस्तान इत्यादि अनेक उपाधियों से विभूषित करने लगा। परन्तु भट्टजी ऐसे लोगों की जो

सहजान्धदृशः स्वदुर्नये
परदोषेक्षणदिव्य चक्षुषः ॥ माघ ।

अपनी कुवृत्तियों के देखने में जन्मान्ध और दूसरे की बुराई देखने में दिव्य दृष्टि रखनेवाले हों, तनिक भी परवाह नहीं करते थे और उनकी प्रतिक्रिया करने में अपनी तौहीन समझते थे।

१८७९ के 'हिन्दी प्रदीप' में आप लिखते हैं :—

"बड़े खेद की बात है कि हमारे देश के धनियों में से जिस किसीकी विद्या की ओर झुकावट हुई भी तो ऐसी जिससे सिवा हानि के लाभ कुछ नहीं है। धर्मरुचि हुए तो शिवाले बनवाये, पत्थरों में रुपये का सत्यानाश किया पर जो वास्तविक धर्म है, जिसके बिना सब चौपट हो रहा है, उसकी ओर से आँख में पट्टी बाँध लिया है। अब यह समय इन बातों का है कि हम व्यर्थ मत-मतान्तरों, झगड़ों को इतिश्री कर दें।"

भट्टजी मानव-जीवन को एक दूसरे से असम्बन्धित टुकड़ों में नहीं मानते थे। उनका सिद्धान्त था :

धर्मार्थकामाः सममेव सेव्याः
यस्त्वेकसेव्यः स नरो जघन्यः ॥

धर्म, अर्थ, काम सभी की उचित मात्रा में सेवा करना चाहिए। जो मनुष्य औरों को ठुकराकर इनमें से केवल किसी

एक की सेवा करता है वह जघन्य है ।

उनका कहना था कि

"यत्तु आर्याः क्रियमाणं प्रशंसन्ति स धर्मः ।

आपस्तम्भ ।

वही धर्म है जिसका करना देश और काल के समझदार लोग प्रशंसनीय कहें ।

आठ

यह कहा जा चुका है कि भट्टजी एक परम भागवत धर्म-निष्ठ वैष्णव थे। एक सदाचारी ब्राह्मण के लिए प्रतिपादित नित्यकर्मों का वे नियम से पालन करते थे; पर वे उनके गुलाम नहीं थे। जो भी नियम उनकी बुद्धि की कसौटी पर खरा नहीं उतरता था उसको वे खरी-खोटी सुनाकर परित्याग कर देते थे। जिस धर्म में जो भी अच्छी बात समझ में आती थी उसकी वे मुक्तकण्ठ से प्रशंसा करते थे और जिसे वे बुरी समझते थे उसे बिना किसी संकोच के बुरी तरह फटकारते थे। उनके धर्म की कसौटी एक थी। यदि कोई धर्म किसी ज़ाति, समाज एवं देश के उत्थान में बाधक है, जो मनुष्य को मानवता से हटाता है, वह उन्हें अग्राह्य था और जो देश के अग्रसर होने के साथ-साथ कदम बढ़ाता था, जो उसे पीछे की ओर नहीं खींचता था, जो उसे कर्म-क्षेत्र में निरुत्साहित और अकर्मण्य नहीं बनाता था वही धर्म उन्हें ग्राह्य था। इसी दृष्टिकोण के कारण एक दिन मेरे सामने भट्टजी से और वेदान्त के धुरन्धर विद्वान् पं० सरयूप्रसादजी मिश्र से हाथा-

पाई की नौबत आ गई थी। अंध-भक्ति में बुद्धि की टाँग अड़ाने से ऐसा होना स्वाभाविक था। मिश्रजी शंकर के अनन्य भक्त थे। भट्टजी उनके बुद्धि-भक्त थे। अप्रैल सन् १८८० के 'हिन्दी प्रदीप' में आप लिखते हैं—

"विरक्त और वेदान्तियों को यह संसार नीरस और फीका जान पड़ता है, हम लोगों की बुद्धि गवाही दे रही है कि नहीं यही सार है इसलिए इसीको सिद्ध करना हमारे जीवन का फल है।" एक दूसरे स्थान पर आप लिखते हैं :—

"इसी मननशीलता के कारण अकर्मण्यता इनकी नस-नस में घुस गई और कितने प्रकार के विज्ञान और साइन्स जिनमें भरपूर उद्यम और प्रागलभ्य (एक्टिविटी) का काम पड़ता है उन्हें शास्त्र सहयोगिनी इनकी मननशीलता ने होने ही न दिया। धर्म-सम्बन्धी उत्कर्षता निस्सन्देह अति उत्तम है किन्तु इसके साथ ही यह भी हुआ कि इस धर्म की उत्कर्षता और पारलौकिक चिन्तन ने समाज और देश की बातों को इतना दबा दिया और इन सब हितकारी उपायों के स्थान में ऐसी टांग अड़ाई कि उनका लेश भी न आने पाया" (हि० प्र० जनवरी १८८७)। वेद के सम्बन्ध में भट्टजी के विचार मैं आपके सामने प्रकट करता हूँ। मार्च सन् १८८० के 'हिन्दी प्रदीप' में आप लिखते हैं :—

"मनुष्य मात्र का यह सामान्य धर्म है कि जब वह किसी वस्तु को जानना चाहता है या किसी वस्तु की खोज करता है तो पहिले उन्हीं वस्तुओं में उसकी खोज करता है जो सामने देख पड़ती हैं। तब दूर की चीज़ों में खोजता है। इसलिए लोगों ने जब पहिले कोई आश्चर्य वस्तु अर्थात् जिसका कारण वे नहीं

समझ सके, देखी तो उसे ईश्वर मान लिया। वेदों में इन्द्र, वरुण, सूर्य आदि जो देवता माने गये हैं उसका यही कारण है कि वे सब मनुष्यों के प्रथम अनुमान तथा कल्पना के फल हैं। वेद में सबसे परम उपास्य देव सविता लिखे हैं जो सूर्य का एक नाम है। इसका कारण भी यही है कि पृथ्वी पर सबसे आश्चर्य की वस्तु सूर्य है जो नित्य हमारे दृष्टिगोचर होता है और प्रकाश में भी उसके समान दूसरी कोई वस्तु नहीं है। इससे पहिले सोचनेवालों ने इसीको ईश्वर और जगत् कारण मान लिया। इसी तरह जल, वायु, अग्नि, औषधि और विद्युत् आदि को भी ईश्वर-कल्पना कर लिया। इसीलिए वेद के अनेक भागों में इन सबों के नाम का उल्लेख बार-बार किया गया है। क्रमशः ज्यों-ज्यों लोगों की बुद्धि सोचते-सोचते मँजती गई, वे सूर्य आदि को जड़ और भौतिक पदार्थ समझने लगे।" एक परम भागवत सनातन-धर्मानुयायी ब्राह्मण के लिए वेद का ऐसा वैज्ञानिक और बुद्धि-सुलभ विवेचन करना यह बतलाता है कि भट्टजी धर्म तथा रूढ़ि के अंधभक्त नहीं थे और उनकी यह विचार-धारा 'बेदवा ससुर में का रक्खा है' वाली, खीझकर कही हुई उक्ति की गुत्थी को सुलझा देती है।

राजनीतिक विचारधारा

भट्टजी की राजनीतिक विचारधारा का मूल्यांकन करने के लिए यह ज़रूरी है कि उस समय की देश की परिस्थिति की थोड़ी-सी समीक्षा कर ली जाय। भट्टजी का जन्म ३ जून सन् १८४३ और देहावसान २०-७-१९१४ को हुआ था। भट्टजी के जीवन के ये ७१ वर्ष परतंत्रता ही में बीते। उनके शैशव में ही देश पर-

तंत्रता के अत्याचारों और तज्जनित आत्मग्लानि से कराह रहा था और पुट-पाक की भांति "अंतर्गूढ घनव्यथ:" उबल रहा था। आखिर-कार वाष्प कितने दिन अवरुद्ध रह सकता था ? १८५७ में जब भट्टजी केवल १४ वर्ष के थे, विस्फोट हो ही तो गया । देश स्वतंत्र होने को अकुला उठा । देश के एक कोने से लेकर दूसरे कोने तक विद्रोहाग्नि इतनी धधक उठी कि :—

'नज़र सैयाद की क्या बर्क़ भी हो तो लरज़ जाये

परन्तु :—

अभी आया न था तिनकों को जाने-आशियाँ होना ।'

इसलिए यह यज्ञ सफल न हो सका, हालाँकि शासन की नींव हिल गयी । परन्तु शासन ने भयानक दमन-चक्र चलाना आरम्भ कर दिया । इस सबका असर भट्टजी के मानव-हृदय पर बहुत गहरा पड़ा । बाद में 'हिन्दी प्रदीप' का जन्म हुआ । भट्टजी को अपने दिल के गुबार निकालने और दमन से भयभीत जनता को अभयदान देने का साधन मिल गया । फिर क्या था, भट्टजी हिन्दी और साहित्य के साथ-साथ ब्रिटिश सरकार की उन योजनाओं की, जो देश के लिए अहितकर थीं, कड़ी समालोचना करने लग गये । यह उन दिनों के वातावरण को देखते हुए कोई सहज काम न था । उस समय छोटे, बड़े, समझदार, नासमझ सभी कलक्टर साहब से डरते थे, उनका मुंह जोहते थे, उनके इशारे पर नाचते थे । किसी प्रकार की आज़ादी का नाम लेना जुर्म था और उसकी सज़ा किसी-न-किसी शक्ल में ज़रूर मिलती थी । एक बात याद आ गयी । नगर में तीन सीधे-सादे, मनसा-वाचा-कर्मणा पवित्र, राजनीति

से कोसों दूर, वयोवृद्ध रहते थे। तीनों में बहुत बनती थी। इनमें से दो व्यक्तियों ने आपस में सलाह की कि प्रत्येक रविवार को एक स्थान पर श्रीमद्भागवत का प्रवचन किया जाय जिसमें लोग एकत्र हों और उपदेशों को श्रवणकर लाभ उठावें। उन दोनों व्यक्तियों ने इस कार्य के आरम्भ करने के पूर्व यह उचित समझा कि उन तृतीय व्यक्ति से भी परामर्श कर लेना चाहिए क्योंकि वे तीनों में बड़े समझदार, अनुभवी और ठोक-बजाकर काम करनेवाले थे। पूछने पर वे दूरदर्शी महोदय इस प्रस्ताव के सब पहलुओं पर थोड़ी देर तक सोचते रहे। फिर बोले, "बात तो बहुत ठीक है, किसी को आपत्ति न होनी चाहिए, पर एक बात सोचने की है। श्रीमद्भागवत हिन्दुओं का धर्मग्रंथ है। हमारे राजा ईसाई हैं। मुमकिन है हम लोगों की इस योजना को कलक्टर साहब पसन्द न करें। इसलिए इस पवाड़े में न पड़ा जाय।" उनके दोनों मित्रों ने सलाह में सार देखा। शायद उन्होंने अपने मन में सोचा हो कि एक दूरदर्शी मित्र होने से कितना लाभ होता है। श्रीमद्भागवत के प्रवचन का ख़याल दिल से निकाल दिया। आज दिन यह घटना काल्पनिक-सी लगती है, पर है अक्षरशः सत्य। अकबर साहब ने ठीक ही कहा था :

क्या ग़नीमत नहीं ये आज़ादी ?
साँस लेते हैं, बात करते हैं।

इस गुलामी के वातावरण को कुछ विस्तार से लिखने का यह तात्पर्य है कि भट्टजी का देशभक्त हृदय अँगरेजों से सदा कुढ़ा रहता था और समय-समय पर वे उनकी चालों की कड़ी

समालोचना करते थे। मज़ेदार समालोचना तो संध्या समय उनकी बैठक में तख्त पर होती थी। उस समय प्रायः क्रान्तिकारी से लेकर देश का ग़द्दार तक मौजूद रहता था। मज़ा आ जाता था जब इस विचित्र मण्डली में कोई राजनीतिक बुद्धू आ जाता था। इसमें मजा आना स्वाभाविक ही है।

हमें पीने-पिलाने का मजा तब तक नहीं आता
कि बज़्मे-मय में कोई पारसा जब तक नहीं आता।
'रियाज़'

फिर तो समालोचना की बाछें खिल जाती थीं। एक महोदय अधेड़ थे। अँगरेजों की निन्दा करना जुर्म समझते थे और अँगरेजों की नीति का, वेदवाक्य की तरह, समर्थन करते थे। शामते-आमाल उस दिन वे मण्डली में मौजूद थे और समालोचना में अँगरेजों की थोड़ी-थोड़ी वकालत करते जाते थे। कहने लगे कि हिन्दुस्तानियों को अख्तियार देने में अँगरेज जो धीरे-धीरे क़दम बढ़ाते हैं वह इसलिए है कि तेज़ी से क़दम बढ़ाने में हिन्दुस्तानियों ही की कहीं हानि न हो जाय। भट्टजी ने एक क़हक़हा लगाया, और बोले "अवे जानत है, अँगरेज पम्पा के बगुला हैं।" वे महोदय संस्कृत साहित्य से अनभिज्ञ थे, बोले "पम्पा के बगुला से क्या मतलब ?" भट्टजी बोले "एही से कहित है कि संस्कृत पढ़ो तो बुद्धि आवे। एक दिन पम्पा सरोवर के तट पर रामचन्द्र ने एक सारस को धीरे-धीरे पैर उठाकर चलते देखा। लक्ष्मण से बोले—

पश्य लक्ष्मण ! पम्पायां बकः परमधार्मिकः।
शनैः शनैः पदं धत्ते प्राणिनां वधशंकया॥

देखो लक्ष्मण ! यह बगुला कितना धार्मिक है । अपना पैर धीरे-धीरे इसलिए उठाता है कि जल्दी चलने में कोई प्राणी उसके पैर के तले न आ जाय और मर जाय ।

एक मछली राम की बात सुनती रही थी । मुँह निकाल कर बोली—

बकः किं वर्ण्यते राम ! येनाहं निष्कुलीकृतः ।
सहवासी विजानीयात् चरित्रं सहवासिनाम् ॥

हे राम ! तुम क्या इस बगुले की फ़ज़ूल तारीफ़ करते हो ? इसने तो धीरे-धीरे हम लोगों को खाकर हमें निर्वंश कर डाला है । अब समझेव ?" हम लोग इस वाद-विवाद का मज़ा ले रहे थे और उसमें आहुति डालते जाते थे । पर उन महोदय ने चुप रहने ही में अपनी ख़ैरियत समझी । हम लोगों ने बहुत कुछ उकसाया, परन्तु उनकी अग्नि प्रज्वलित न हुई । बात वहीं समाप्त हो गई और थोड़ी देर बाद लोग एक-एक कर चले गये । ऐसी चण्डाल-चौकड़ी आये दिन उस तख़्त पर लगा करती थी ।

हिन्दी एवं संस्कृत साहित्य के बाद भट्टजी को यदि किसी बात में दिलचस्पी थी तो वह थी राजनीति । जिस तरह समाज एवं धर्म-सम्बन्धी उनके विचार उदार और क्रान्तिकारी थे, उसी प्रकार राजनीति सम्बन्धी भी । जब से इण्डियन नेशनल कांग्रेस स्थापित हुई तब से वे प्रायः हर अधिवेशन में पं० मदनमोहन मालवीय के साथ प्रतिनिधि होकर जाते थे और उसकी कार्यवाही चाव से सुनते थे, और वहाँ से लौटकर 'हिन्दी प्रदीप' में बड़े ओजपूर्ण लेख लिखते थे ।

१८९६ के 'हिन्दी प्रदीप' में आप लिखते हैं :—

"विलायतवालों ने जो हमको दासत्व की अवस्था में रख छोड़ा है, हमारा शिल्प, वाणिज्य सब हमसे छीन विलायत के अपने भाइयों का हर तरह पर पेट भर रहे हैं, हमारी दाँतों पसीने की मेहनत का फल, मुल्क की पैदावारी का सुख बल-पूर्वक आप उठा रहे हैं सो सब हमारे ही कुलक्षणों से। मसल है 'जिसकी लाठी उसकी भैंस।' हमारे में कोई लक्षण होता तो लाठी और भैंस दोनों हमारी ही न होती।......जो हम लोग अपने शासनकर्ता की पालिसी को समझ सकते और संतोष का आदर न कर अन्धे-गूँगे न हो गये होते और सर्वतोभावेन 'त्वंग तिस्त्वं मतिः' के सहारे अपने को इतना नीचे न गिरा देते तो देश ऐसी शोचनीय दशा में न आया होता।" भट्टजी ने ठीक ही कहा था पर उस पालिसी को अच्छे-अच्छे नहीं समझ पाते थे, साधारण जनता की कौन कहे ?

भट्टजी प्रायः 'हिन्दी प्रदीप' में अपने पाठकों के मनोरंजनार्थ उर्दू के बहुत से शेरों को उद्धृत किया करते थे। उनकी उपर्युक्त राजनीतिक विचारधारा के पोषण में मैं भी थोड़े से अकबर के शेरों को लिखता हूँ।

"चाल दुनिया की तुम्हें महसूस हो, दुश्वार है।
यह ज़मीं चलती है तेज़ी से, मगर हिलती नहीं॥
जो अस्लो-नक़्ल से वाक़िफ़ है उसने दिल को है रोका।
मुबारक हो तुम्हींको चाटना लड्डू के फोटो का॥
यही बहसें रहीं सबमें वो कैसे हैं, वो कैसे थे।
यही सुनते हुए गुज़री वे ऐसे हैं, वो ऐसे थे॥

अमल औरों ही के देखा किये ये नेक, ये बद हैं।
तरक्की कुछ न की, रह गये वैसे कि जैसे थे ॥

(भट्टजी इसीको कुलक्षण कहते थे।)

हमें तो चाहते हैं खींचना खुद हमसे खिचते हैं।
ये उनके पालिसी के बाग़ किस पानी से सिंचते हैं ॥
गुले तसवीर किस ख़ूबी के गुलशन में लगाया है।
मेरे सैयाद ने बुलबुल को भी उल्लू बनाया है ॥

महाकवि अकबर के कुछ शेरों को उद्धृत करने का यह भी मतलब है कि उस युग के देशप्रेमी विचारकों के हृदयों में विदेशी शासन एवं नीति के प्रति क्या प्रतिक्रिया हो रही थी, उसपर प्रकाश डाला जाय। अकबर भट्टजी से तीन वर्ष छोटे थे। उनका जन्म १८४६ में हुआ था और भट्टजी का १८४३ में। दोनों एक ही युग के विचारक थे। दोनों ही की राजनीतिक विचारधारा एक ही रास्ते से बहती थी। फ़र्क़ इतना था कि अकबर 'मदख़ूलये गवरमेंट' थे और सरकारी नौकर थे, और भट्टजी अध्यापक और स्वच्छन्द एडीटर। अकबर साहब शायर होते हुए, वकील थे, सेशन्स जज थे, कानून-कायदों के दाँव-पेचों की उन्हें पूरी वाक़फियत थी। इसलिए वे भौं बचाकर वार करते थे। उन्होंने खुद लिखा है :—

उधर है जेल की ज़हमत, इधर है क़ौम की लानत
उधर आराम जाता है, इधर ईमान जाता है ॥
ब-मजबूरी ब-माज़ूरी शरीके-कैम्प है अकबर।
मगर जिसमें बसीरत है उसे पहचान जाता है ॥

भट्टजी में एडिटर होते हुए एडिटरों की तरह कानून के फंदों को बचा जाने की विद्या न थी। वे 'सत्ये नाऽस्ति भयं

क्वचित्' के माननेवालों में थे और जो कुछ दिल में आता था, कह गुज़रते थे। अकबर तो अपने को बाल-बाल बचा ले गये। सिर्फ चेतावनी पर मामला दाखिल दफ्तर कर दिया। आप खुद फ़रमाते हैं :—

हुक्म अकबर को मिला है कि न लिखो अशआर।
ख्वाजा हाफ़िज़ भी निकाले गये मयख़ाने से।

और यह चेतावनी इसलिए मिली कि—

रक़ीबों ने रपट लिखवाई है जा जा के थाने में—
कि अकबर नाम लेता है ख़ुदा का इस ज़माने में।

परन्तु भट्टजी को अपनी स्पष्टवादिता का परिणाम भुगतना ही पड़ा, नौकरी छूट गयी और 'हिन्दी प्रदीप' में शासन की नीति के विरुद्ध लिखना बंद करना पड़ा। इसे आगे चलकर कुछ विस्तार से लिखूँगा।

जिस प्रकार के व्यंग्य वे सरकारी शासन और उसके कर्म-चारियों पर करते थे, उसका परिणाम इतना ही होकर रह गया। यह भगवत्कृपा थी। वर्नः भट्टजी ने जेल जाने में अपनी ओर से कोई बात उठा नहीं रक्खी थी। उनके 'हिन्दी प्रदीप' में प्रकाशित थोड़े-से व्यंग्यों के उदाहरण नीचे देता हूँ। कुछ शब्दों की परिभाषा वे इस प्रकार करते हैं :—

नासमझी :—विदेशी शासन कैसा ही उदार शासन हो, उसके अधीन रहकर हमको अपनी राजनैतिक तरक्की में उनकी बराबरी का दावा करना। (हि० प्र० १८९२ अप्रैल)।

पुलिस :—भलेमानुसों की फजीहत की तदबीर।

कोतवाल शहर :—हलाकू चंगेज खाँ, नादिरशाह, तैमूर शाह के ताऊ।

डिसलायल :—हिन्दुस्तानी अखबार।

टैक्स :—जबर्दस्त का ठेंगा सर पर—दाल भात में मूसलचन्द।

प्रेस एक्ट :—मुँह में मारे, रोने न दे।

बेकदर :—हिन्दी अखबार के एडीटर।

इस तरह की कितनी ही व्यंग्यात्मक परिभाषाएँ वे 'हिन्दी प्रदीप' में करते थे। पुलिस के तो मानो पीछे पड़ गये थे और उसकी करतूतों की कड़ी समालोचना वे समय-समय पर करते थे, जिसका नतीजा यह हुआ कि पुलिस उनके पीछे पड़ गयी। उनके यहाँ पुलिस ने तलाशी ली; परन्तु कुछ मिला नहीं। किन्तु सादा कागज के अभाव से पुरानी कापियों और रद्दी कागजों पर 'हिन्दी प्रदीप' के लिए लिखे हुए उनके लेख ले गये। एक परिणाम और हुआ। जाड़े का दिन था, भट्टजी अपने मकान के बाहर चबूतरे पर धूप में ध्यानमग्न आँखें बंद किये जप कर रहे थे। गली में कोई था नहीं। एक आदमी भट्टजी के सर पर जूते से प्रहार कर भाग गया। भट्टजी ने केवल इतना कहा—"भैया हम का किया है ? हमें काहे मारत हौ ? लेव और मार लेव !" कहकर सर झुका दिया। परन्तु प्रहार करनेवाला भाग गया था, उनकी आज्ञा का पालन न कर सका। बात वहीं खत्म हो गयी।

नौ

इसके पहले मैं भट्टजी के राजनीतिक विचारों का थोड़ा-सा उल्लेख कर चुका हूँ। उनके कारण उन्हें क्या तकलीफ़ें उठानी पड़ीं, उनके साथ क्या दुर्व्यवहार किया गया और उनको झेलते हुए वे कितने अडिग रहे, यह सब अब संस्मरण मात्र रह गए हैं। फिर भी उनसे नई पीढ़ी की आँखें खुलती हैं। उनसे नवयुवकों को सम्बल मिलता है और साहित्यिकों को प्रेरणा। एक धर्मनिष्ठ, संयमधन, कर्तव्यपरायण, गरीब साहित्यिक के हृदय को अपने देश का दासत्व एवं दुर्दशा कितना व्यथित कर सकते हैं और उसके हृदय में कितनी प्रतिक्रिया हो सकती है, उसके भट्टजी ज्वलन्त उदाहरण थे। ऐसी दुरवस्था में मनुष्य को क्या करना चाहिए, इसके वे पथप्रदर्शक थे। पथप्रदर्शक ही दुर्लभ होता है। जब वे मुझे 'किरातार्जुनीय' पढ़ा रहे थे तब उन्होंने उसके निम्नलिखित राजनीति-सम्बन्धी श्लोक की बड़ी मार्मिक व्याख्या की थी :

"बिषमोऽपि विगाह्यते नयः कृततीर्थः पयसामिवाशयः।
स तु तत्र विशेषदुर्लभः सदुपन्यस्यति कृत्यवर्त्म यः॥

"राजनीति के हथकंडों को समझ पाना यद्यपि बड़ा कठिन काम है फिर भी उसकी चालों को समझने वाला यदि समझावे तो समझना सुगम हो जाता है। जैसे कि एक गहरी बावली की तह पर पहुँचकर स्नान करना बड़ा कठिन है परन्तु उसमें कोई सुदृढ़ सीढ़ी बना दे तो अवगाहन सरल हो जाता है। वास्तव में पथप्रदर्शक ही दुर्लभ है।"

एक बार मैंने महामना मालवीयजी से कहा था कि राजनीति की परिभाषा तो माघ ने एक अनुष्टुप् छंद में कर दी है। वह श्लोक था :—

आत्मोदयः परग्लानिः द्वयन्नीतिरितीयती।
तद्दूरीकृत्य कृतिभिः वाचस्पत्यं प्रतायते॥

'अपना उदय और दूसरे का ह्रास इतनी ही तो राजनीति है। इतने ही को सिद्धान्त मानकर नीतिज्ञ वाचस्पत्य करता है।'

मैंने समझा था कि महामनाजी माघ की इस सूझ की प्रशंसा करेंगे परन्तु मालवीय से नाक सिकोड़कर तुरन्त कहा, "यह टुच्ची राजनीति है। राजनीति वही प्रशंसनीय है जिसमें अपना भी अभ्युदय हो और दूसरे का भी।" जब भट्टजी से मैंने मालवीयजी की इस समालोचना को कहा तो वह बोले, "माघ ठीकै तो कहिस है। मालवीयजी उस राजनीति का सपना देखत हैं जो होना चाहिए। माघ ऊ कहत है जो है। मालवीयजी के कथन में कल्पना है, माघ में वास्तविकता। काहे को संसार से स्वार्थपरता हटी और काहे को मालवीयजी का सपना पूरा होई 'काहे को नौ मन तेल होई काहे को राधा नचिहैं'।" भट्टजी की समालोचना सुनकर मुझे अकबर का

शेर याद आ गया :—

उसे हम आख़िरत कहते हैं जो मशगूल हक़ रक्खे।
खुदा से जो करे ग़ाफ़िल उसे दुनिया समझते हैं॥

सन् १६०८ की बात है। भट्टजी के देहावसान के छः बरस पहिले सूरत की कांग्रेस में भट्टजी और मालवीयजी दोनों ही गए थे। दोनों ही साथ-साथ ठहरे थे। यद्यपि दोनों महापुरुषों में घनिष्ठ मित्रता थी पर उनके राजनीतिक विचारों में महदन्तर था। एक तीरघाट तो दूसरा मीरघाट। यह वह समय था जब कि भारत को स्वतंत्र करने का प्रयत्न करनेवाले भारतीय दो स्पष्ट दलों में विभक्त हो गए थे। एक नरम दल (Moderates) और दूसरा गरम दल (Extremists)। मालवीयजी नरम दल में थे। उन्हें फूँक-फूँककर क़दम रखना पसन्द था। भट्टजी को नरम दल फूटी आँख नहीं सोहाता था। वे जानते थे कि :—

यह दाल लबे-गंग कभी गल नहीं सकती।
कल्लू के पटाख़े से बला टल नहीं सकती॥—अकबर

वे समझते थे कि अंग्रेजी राज्य का भूत, नरम दलवालों के फिट-फिट करने से नहीं भाग सकता। उसके लिए चाहिए बम की ताक़त रखने वाली शक्ति। इसीसे गरम दल के विचारों से उनका मेल खाता था। बावजूद इसके मालवीयजी भट्टजी का आदर करते थे और भट्टजी को मालवीयजी पर नाज़ था। दोनों एक दूसरे की महत्ता को पहिचानते थे और उसकी क़द्र करते थे। सूरत-कांग्रेस के प्रधान पात्र थे श्री बाल गंगाधर तिलक। भट्टजी उनके भक्त थे। स्वाभाविक ही

था। तिलक महाराज गरम दल के अति गरम नेता थे, इसके कहने की आवश्यकता नहीं।

"किं कस्तूरिकामोदः शपथेन विभाव्यते"

कस्तूरी की सुगंधि को प्रमाणित करने के लिए शपथ खाने की आवश्यकता नहीं।

तिलक महाराज की अग्नि तो उनके मुखपत्र 'केसरी' के शीर्षक ही से धधकती दिखाई पड़ती है।

स्वामी कुंजरवृन्द के इस घने कान्तार के भीतर
रे एक क्षण भी न तू ठहरना उन्माद में आकर।
हाथी जान शिला विदीर्ण करिके पैने नखों से निरी
सोता है गिरिगर्भ में यह यहीं भीमाकृती केसरी ।।

इस शीर्षक पर मुझे जगन्नाथ पण्डितराज का एक श्लोक याद आ गया जो भट्टजी प्रायः पढ़ते थे और पढ़ते समय उत्तेजित हो उठते थे।

धीरध्वनिभिरलन्ते नीरद ! मे मासिको गर्भः।
उन्मदवारणबुद्ध्या मध्येजठरं समुच्छलति ।।

सिंहनी कहती है, हे नीरद (बादल) ! मत गरजो। मेरे एक मास का गर्भ है। मेरे उदर में वह एक मास का बच्चा तुम्हें मत्त हाथी समझ तुम पर झपटने के लिए उछल रहा है।

सूरत में कांग्रेस-भंग से मालवीयजी को बड़ी ठेस लगी। वे व्यथित हो उठे। डेरे पर आकर वे बिस्तर पर लेट रहे। परन्तु उन्हें नींद न आई। बीच-बीच में वे कह उठते थे "हाय तिलक, हाय तिलक।" भट्टजी का बिस्तर बगल ही में लगा था। उनसे न रहा गया, बोल उठे "हमरे तिलक को काहे

कहत हौ । अपने का नहीं कहतेव ?" मालवीयजी कुछ नहीं बोले ।

सूरत-कांग्रेस के दो ही दिन पहले किसी अज्ञात व्यक्ति ने ढाका के डिस्ट्रिक्ट मैजिस्ट्रेट पर गोली चलाई; बंगाल के छोटेलाट और चंदरनगर के मेयर को जान से मार डालने के उपक्रम ने ब्रिटिश शासन को बौखला दिया और उसने भयंकर दमन आरम्भ कर दिया । इन सबका ख़मियाज़ा तिलक महाराज पर उतरा । उन्हें छः बरस कठोर कारावास की सज़ा मिली । सम्पूर्ण भारत में इसके शोक में सभाएं होने लगीं । ऐसी एक सभा प्रयाग में भी बलुआघाट पर हुई । उसके संयोजक थे पं० सुन्दरलाल और सभापति पं० बालकृष्ण भट्ट । सभा में कोई बिछायत न थी । जान-पहिचान, दोस्त-अहबाब बहुत थे जिनके यहाँ से ढेरों दरियाँ आ सकती थीं । पर इस काम में देकर कौन ज़हमत में पड़े ।

वक़्ते-पीरी दोस्तों की बेरुख़ी का क्या गिला !
बच के चलता है हर एक गिरती हुई दीवार से ॥

सब लोग पक्की फ़र्श पर ही बैठे थे । लगभग सौ आदमी तो थे ही । उनमें आधे से अधिक तो पुलिस वाले ही थे । बाकी मल्लाहों के परिवार के लौंडे-लपाड़ी और थोड़े से साहसी छात्र । यही सार्वजनिक सभा हो सकी थी !! संयोजक पं० सुन्दरलाल ने अपनी वक्तृता में तिलक महाराज के कारावास पर शोक प्रकट किया । तदुपरान्त भट्टजी उठे । हृदय उनका भरा हुआ था । बोले, "का तिलक तिलक करत हौ । हमें तिलक का कौनौ दुख नहीं ना । तिलक का कौन दुःख ? अपने

देश के लिए गए हैं। फिर आय जइहैं। हमें दुःख उन लोगन का है जो फिर कभी हमसे आय के न मिलिहैं। जो बिना खिले ही मुर्झाय गये। हमें दुःख खुदीराम बोस का है।" और कुछ आगे कहने ही वाले थे कि सुन्दरलाल जी, बात बढ़ती हुई देखकर, कुछ डरे और भट्टजी को सावधान करने के लिए धीरे से उनके अँगरखे का पल्ला खींचा। फिर क्या था, भट्टजी 'अवमर्दीदिव दृप्तसिंहशावः' की भाँति सुन्दरलालजी की ओर पलट पड़े और गरजकर बोले "हमरा पल्ला काहे को खींचत हौ। ठीकै तो कहित है।" फिर उपस्थित लोगों की ओर मुड़कर बोले, "हमरा पल्ला खींचत हैं, हमसे कहत हैं कि न कहो। कही काहे न, हिये में तो आग लगी है, कही काहे न......" सम्भव है, खुदीराम बोस का नाम लेने के पहिले भट्टजी को 'ज़ौक़' का यह शेर याद आ गया हो :

गुल भला कुछ तो वहारे ऐ सबा ! दिखला गये।
हसरत उन गुंचों पर है जो बिन खिले मुरझा गये ॥

वह शोक-सभा जैसे-तैसे समाप्त हो गई पर उसका फल भट्टजी को भुगतना पड़ा। शिक्षा विभाग के संचालक ने उनको 'चेतावनी' देने के लिए बुला भेजा। भट्टजी सब समझ गए थे, गये, पर इसके पहिले कि संचालक महोदय इस सम्बन्ध में कुछ साफ-साफ कहने पावें, भट्टजी बोल उठे, "राम, राम, राम, राम हमें ऐसी नौकरी न चहिए" कहकर बिना पूछे उठ खड़े हुए और चले आए। इस सबका परिणाम यह हुआ कि भट्टजी को कायस्थ पाठशाला की प्रोफेसरी से हाथ धोना पड़ा। तदुपरान्त उनकी जीवन-नौका फिर आर्थिक

कष्ट के मँझधार में पड़कर अनन्त की ओर बह चली। पर भट्टजी को इसकी कोई परवाह न थी। वह शायद सोचते थे :—

क़यामत का मुझे डर क्या जो कल आती है, आज आये।
हमारे साथ की खेली है, मेरी देखी-भाली है॥
—हफ़ीज़ जालंधरी

एक जगह मैंने कहा था कि साहित्यसेवा के बाद भट्टजी को देशसेवा प्रिय थी। अब मेरा यह ख्याल है कि साहित्यसेवा और देशसेवा उन्हें समान प्रिय थी। 'हिन्दी प्रदीप' में उनके लेखों से यह पता चलता है कि इन दोनों में यदि पलड़ा झुकता था तो देशसेवा ही का झुकता था। इस सम्बन्ध में उनके समय का कोई पत्रकार उनका मुकाबिला नहीं कर सकता था। देश की परतंत्रता की व्यथा, उसकी आज़ादी के लिए व्याकुलता, समाज और साधारण जनता की अपनी तरक्की की ओर उदासीनता ही नहीं, घोर विरोध इत्यादि विषयों पर 'हिन्दी प्रदीप' में उनके लेखों का उद्धरण किया जाय तो सम्भव है कि 'हिन्दी प्रदीप' के फाइल की आधी नकल करना पड़े। और यदि आजदिन ब्रिटिश साम्राज्य होता तो उनके तीखे लेखों में से उद्धरण करने का किसी को साहस न होता। थोड़े से उद्धरण मैं देता हूँ जिससे मेरी बात की पुष्टि हो जायगी।

अंग्रेज लोग भारत को किस प्रकार लूट रहे हैं, इस सम्बन्ध में भट्टजी लिखते हैं :—

"सच पूछिए तो इस चिऊँटा-ढोअन पर न जानिये कितना रुपया भिन्न-भिन्न द्वार से प्रतिवर्ष विलायत ढोआ चला जाता है। फिर भी हमारे यहाँ की धरती की उपजाऊ शक्ति के आगे

वह नोकसान मालूम नहीं पड़ता । सच तो यों है कि इँगलैंड आदि बहुतेरे देश ऐसे हैं जो केवल अपरिमित वाणिज्य ही के कारण रँजे-पुँजे हैं और वहाँ के रहनेवाले लाल गुलाल बन रहे हैं । यदि उनकी जहाजें समुद्र में चलना बन्द कर दी जायँ अथवा हिन्दुस्तान के साथ उनका लेनदेन किसी कारणवश रुक रहे तो निश्चय जानिये, लोग भूखों मरने लगें ।"

(हिन्दीप्रदीप, नवम्बर १८८५)

आप ही बताइये, यह 'ताजोरात हिन्द' में वर्णित शासन की ओर घृणा उत्पन्न करानेवाली दफ़ा के अन्तर्गत आता है या नहीं ?

> अल्लाह ! रे जालिम तेरे क़ानून की बंदिश ।
> लब बन्द, ज़ुबां बन्द, दहन बन्द, ज़ेहन बन्द ।।

इस 'ताज़ीरात हिन्द' की सर्वशक्तिमत्ता की 'गिलेटीन' (गरदन नाप लेने का यंत्र) के आगे नतमस्तक होना ही पड़ता है ।

'इण्डियन पीनल कोड' के निर्माता लार्ड मेकाले की 'स्पृशन्ति शरवत् तीक्ष्णाः स्तोकमन्तर्विशन्ति च' (माघ) पैनी बुद्धि की प्रशंसा कहाँ तक की जाय । तीर शरीर के अत्यल्प स्थान को छूता है परन्तु तुरन्त भीतर घुस जाता है ।

'आर्म्स ऐक्ट' (Arms Act) का विरोध करते हुए भट्टजी अपने दिल का ग़ुबार यों निकालते हैं :—

"क्या यही देशी लोग मरहठों के दिनों तक और इसी अंग्रेजी राज्य में गदर के पहिले न थे कि कैसी-कैसी लड़ाइयाँ लड़े और कितनी बार दुश्मनों के दाँत खट्टे कर दिये । वही

अब हैं कि पास लाठी तक न रही। जरा किसी ने दरवाजा खटखटाया कि छक्के छूट गये, हाथ-पाँव ढीले हो गये। अंग्रेज और किरानी तो वालंटियर भी होते हैं पर देशी जन लाठी भी बिना सरकार की आज्ञा के नहीं बाँध सकते। इस कड़े प्रबन्ध ने देश को शिथिल कर डाला। शान्ति तो है पर बल, पुरुषार्थ, वीर्य और उद्यम सबको इस शान्ति दुष्टा ने चूस कर हमें निःसत्व कर दिया।" (हिन्दीप्रदीप, मार्च, १८८५)

इस मृत्यु की शान्ति का नकशा जो भट्टजी ने खींचा है वह अननुकरणीय है। परन्तु इससे क्या होता है। जनता इस कड़े शासन से इतनी निर्जीव हो चुकी थी कि उसके सर पर जूँ नहीं रेंगती थी। कहावत है Strike as hard as you may on the coffin but you cannot wake up the dead. 'अरथी को आप जितना चाहिए झकझोरिये, मुर्दा नहीं उठ सकता।' और इसका कोई असर शासन पर भी नहीं होता था। देश के तकवार, थोड़े से कुत्ते और यदि उसे कुछ शिष्टता से कहा जाय तो कुछ झक्की लोग, माघ मेले में पादरी साहब के व्याख्यान की भाँति भूँकते रहते थे और हाथी बड़ी उपेक्षा से अपनी राह चला जाता था। यह वातावरण जनता और शासन का था जिसमें गरीब भट्टजी माथा-पच्ची किया करते थे।

इसी प्रसंग में 'सरकार पर अपार भार' शीर्षक लेख में भट्टजी कहते हैं :—

"सरकार ने व्यर्थ ही अपना बोझा बढ़ा लिया है, अगर संसार के जीवों की चोंच, सींग, नखदन्त आदि चीजें छीन कर मनुष्य कहे चिन्ता न करो, रक्षा के लिए हम हैं उसी प्रकार

अंग्रेज सरकार ने जनता को शस्त्रविहीन कर उसकी सुरक्षा की जिम्मेदारी अपने कंधों पर ले ली है पर व्यर्थ, क्योंकि चोर-डाकू, जंगली जानवर आदि से सरकार हर समय कहाँ तक रक्षा करेगी। उसे चाहिये लोगों को शस्त्र रखने की आज्ञा दे दे।" (हिन्दीप्रदीप, अक्टूबर १८८०)।

पर यह अरण्यरोदन ही रहा। सरकार का दृष्टिकोण था :—

कहो जो चाहो, सुन लेंगे, मगर मुतलक़ न समझेंगे।
तबीयत तो ख़ुदा जाने कहाँ है, कान हाज़िर है।।

—अकबर

अकबर साहब का कहना है—

क़लई तो रेयाकार की खुलती रहे अकबर।
ताने से मगर तर्ज़े-मुहज्ज़ब भी न छूटे।।

भट्टजी ने अपने 'हाकिम और उनकी हिकमत' शीर्षक लेख में 'तर्ज़े-मुहज्ज़ब' की पराकाष्ठा पहुँचा दी। सरकार की पालिसी का भंडाफोड़ करते हुए व्यंग करते हैं। आप लिखते हैं :—

"जैसा प्रकृति के अधिष्ठान बिना सांख्य दर्शन वालों का पुरुष जड़, निश्चेष्ट और बेकाम है वैसे ही सर्वशक्तिमान हे हाकिम! तुम अपनी हिकमत-अमली के अधिष्ठान बिना सामर्थ्य-शून्य हो।...तुम विचारपति हो, कचहरियों में ऊँचे आसन पर सुशोभित हो। हंस के समान इन्साफ करने में दूध का दूध पानी का पानी कर देने में समर्थ होकर भी जो अपने प्रकृति के गुण हिकमत के परवश हो अपनी जातिवालों का तथा शासन-प्रणाली में अपने देश का विशेष पक्षपात करते हो सो केवल (केवल

शब्द की दाद नहीं दी जा सकती—लेखक) कवि की इस उक्ति की सार्थकता के लिये "भवन्ति साम्येपि निविष्टचेतसां, वपुर्विशेषेष्वतिगौरवाः क्रिया :"·········आप राजराजेश्वरी के महापार्षद हो, खाँ बहादुर, रायबहादुर आदि उपाधि आपकी सेवा परिचर्या का सद्यःफल और आपकी हिकमत-अमली का परिणाम है। हे सकल सामन्त चक्रवर्तिन्! अनेक दोष-दूषित भी आपकी कारगुजारी को क्या ताकत कोई दूष सके, आपके प्रबन्ध को बुरा कहना गवर्नमेंट का विरोधी हो जाना है। हे सर्वव्यापिन्! आपका महाविराट् वैभव पायोनियर हजार मुख से हमें चाहे सो कह डाले, हमारे दोषों को सहस्र नेत्र से निरखा करे कोई हर्ज की बात नहीं, क्योंकि वे सभ्य समाज के अग्रणी और सभ्यता-प्रचारक परमाचार्य हैं किन्तु हम लोगों के मुख से यदि कुछ निकल जाय चाहे वास्तव में वह सच भी हो 'सेडीशन' और प्रजा के मन में विद्रोह उभाड़नेवाला है। हे महाभाग! तुम प्रत्यक्ष देवता हो···देवगण अजर होने के कारण बाल्य, यौवन और प्रौढ़ इन्हीं तीन में सदा रहते हैं अर्थात् बुढ़ापा उनपर कभी व्यापता ही नहीं, वैसे ही तुम भी कभी बूढ़े नहीं होते क्योंकि ५५ साल के ऊपर सरकारी नौकरी से बरतरफ कर देनेवाला कानून बहुधा तुम्हारे लिये नहीं देखते—यद्यपि आप हम लोगों के समान जो मनुष्य कोटि में हैं अल्पज्ञ मूढ़ मन्दमति होकर सरकारी नौकरी का काम नहीं आरम्भ कर देते किन्तु लियाकत और सब तरह की योग्यता के पुतले बन कर बिलाइत से आते-आते हो तो भी बीच-बीच में अपने अधिकृत कामों में ऐसी अनभिज्ञता और बाल्यभाव जो प्रगट कर

उठते हो कि ५ वर्ष का बालक भी ऐसा न करेगा सो यह सब आपकी क्रीड़ा और लीला-विलास है जिस लीला-विलास की पुण्यकथा और पवित्र चरित्र का सब हाल हम लोग समाचारपत्रों में पढ़ अपने भाग सराहते हैं और अपने को धन्य और कृतकृत्य मानते हैं, जिसके द्वारा पुण्यश्लोक-संकीर्तन समान हमारे जन्म-जन्म के अघओघ सब बिलाय जाते हैं········नितान्त अबोध हम आपकी निसर्ग-दुर्बोध हिकमत-अमली को क्या समझ सकते यह आपही की कृपा है जो आपके द्वारा वितरित शिक्षा से नेत्रोन्मीलन पाकर कुछ-कुछ अब आपकी पालिसी के ढंग को समझने लगे हैं

> निसर्गदुर्ब्बोधमबोधविक्लवाः
> क्व भूपतीनां चरितं क्व जन्तवः ?
> तवानुभावोऽयमवेदि यन्मया
> निगूढतत्वं नयवर्त्म विद्विषाम् ॥

········हम लोगों का कपोतवृत्त है, "मुख सों आह न भाखि हैं निज सुख करो हलाल ······"

(हिन्दीप्रदीप १८९२ अप्रिल-मे-जून पृ०-३३)

यह निबन्ध बहुत लम्बा है इसलिए पूरा का पूरा उद्धृत नहीं कर सका यद्यपि उसका एक-एक शब्द इतना ललित और अनोखा है कि एक भी शब्द छोड़ने का जी नहीं चाहता। अब आप ही बताइये कि भट्टजी ने तो ताज़ीरात के शिकंजे में फँसने की अपनी ओर से कोई कोरकसर उठा नहीं रक्खी अगर फिर भी न फंसें तो उनका इसमें क्या कसूर ! इसे भट्टजी का सौभाग्य समझिये या भगवत्कृपा। बात यह है 'पिया जेका

चाहें वही सोहागिन'।

भट्टजी के विचार से देशभक्ति और राजभक्ति का समन्वय नहीं हो सकता। सच्चा देशभक्त राजभक्त नहीं हो सकता। एक नीति है, दूसरी भक्ति। एक चेस बोर्ड है, दूसरा मन्दिर। एक मयख़ाना है, दूसरा काबा।

इस सम्बन्ध में भट्टजी अपने विचार यों व्यक्त करते हैं:—

"हमारा कथन है कि राजभक्ति और प्रजा का हित दोनों का साथ कैसे निभ सकता है? जैसे हँसना और गाल का फुलाना, बहुरी चबाना और शहनाई का बजाना एक संग नहीं हो सकता ऐसा ही यह भी असम्भव और दुर्घट है......राजभक्ति का फल पहिले देखने में बड़ा मीठा है पर परिणाम में महामन्दकारी और रूखा है। इसे बहुत खाते-खाते मनुष्य क्षीणवीर्य, क्षीणस्वत्व और क्षीणतेज हो जाता है, रग-रग और रोम-रोम में दास्यभाव आलर्क अर्थात् कुत्ते के विष समान ऐसा असर कर जाता है जिसके दूर करने की जितनी ही तदबीर हो कुछ कारगर नहीं होती......प्रजा के हित का फल यद्यपि कड़वा, फीका और अरोचक है पर अन्त को बड़ा उत्तेजक, वीर्यवर्द्धक और पौष्टिक है। इस फल के खाने वाले देशोपकारी, सर्वजन-हितैषी और उदार प्रकृति होते हैं।"

(हिन्दी प्रदीप, दिसम्बर १८८२)

शास्त्र कहता भी है:—

भक्ष्यभक्षकयोप्रीतिः विपत्तेः कारणं महत्।

विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार के सम्बन्ध में भट्टजी लिखते हैं:—

"हमारे पण्डित लोग अपनी पोथियों में विदेशी वस्तुओं का बर्तना पाप लिख देते और कथक्कड़ व्यास कथाओं में स्त्रियों को यह सुनाया करते तो बड़ा उपकार होता। सहस्र बार के आन्दोलन में भी उतना फल न फलेगा जितना सरल चित्तवाली हमारी ललना-जन के चित्त में यह बैठ जाने से कि विलायत की बनी चीजों के बर्तने में बड़ा पाप होता है। तात्पर्य यह कि देशी चीजों का बर्तना धर्म का एक अंग मान लिया जाय और सीधी-सादी स्त्रियों को सुझा दिया जाय कि विलाइत के बने कपड़े पहिनोगी तो नरक में जाओगी, जो जितना ही विदेशी वस्तु कम काम में लावेगी उसके लिये उतना ही स्वर्ग में जाना सुलभ होगा। ऐसा होने से देशी वस्तुओं का चलन सहज में हो सकता है......तैमूर, नादिर, चंगेज, महमूद गजनवी आदि हमला करनेवालों ने समय-समय देश को आक्रमण कर इस कदर नहीं लूटा जैसा विलाइत की बनी चीजों से हमारा धन लुटा जाता है। ये नादिर आदि लुटेरे आये, एक बार लूट-पाट चले गये। दो-चार वर्ष उनकी लूट का असर रहा, थोड़े ही दिन बाद देश फिर अपनी पहिले की-सी सम्पन्न दशा में आ गया। फैशनपरस्ती के जाल में फँस हम सबों को विलाइत की नफासत और चटकीलापन ने ऐसा मोहित कर रक्खा है कि हमारा क्या और क्यों सत्यानाश हो गया, कभी एक बार भी हम लोगों ने न सोचा"।

(हिन्दी प्रदीप, अक्टूबर १९०५)

यह स्त्रियोंवाला नुसख़ा वाक़ई पुरअसर है। सब आन्दो-

लन एक तरफ़, यह नुसखा एक तरफ़। भारवि ने ठीक कहा है :—

परिणामसुखे गरीयसि
व्यथकेऽस्मिन्वचसि, क्षतौजसाम्।
अतिवीर्यवतीव भेषजे
बहुरल्पीयसि दृश्यते गुणः ॥

जिस प्रकार ओषधि की एक वीर्यवती गोली देखने में तो छोटी-सी होती है परन्तु उसमें गुण बहुत होता है उसी प्रकार भट्टजी की यह छोटी सी सलाह गिरे हुए देश के लिए महान् उपकारी है।

दस

राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डनजी भट्टजी के प्रिय शिष्यों में थे। टण्डनजी में प्रतिभा है, देशसेवा की लगन है और हिन्दी की नौका के वे कर्णधार हैं। हिन्दी को हवा बतास से बचाने में सदा जागरूक रहते हैं। ऐसे शिष्य पर भट्टजी को अभिमान होना स्वाभाविक ही था। दोनों का स्वभाव बहुत कुछ मिलता-जुलता था। देश और हिन्दी के अहित के सम्बन्ध में टण्डनजी किसी से भी चाहे वह कितना ही बड़ा व्यक्ति क्यों न हो—कोई समझौता नहीं कर सकते। अपने कर्तव्य के वे सजग प्रहरी हैं। साधारणतः उनका स्वभाव बड़ा कोमल है; बच्चों का-सा कोमल यदि कहें तो अतिशयोक्ति न होगी। परन्तु बात पड़ने पर वे कितने कड़े और अडिग हो सकते हैं, इसका सहज में आभास मिल जाता है।

समवृत्तिरुपैति मार्दवं समये यश्च तनोति तिग्मताम्।
अधितिष्ठति लोकमोजसा सविवस्वानिव मेदिनीपतिः॥

भारवि ने उपर्युक्त श्लोक लिखा तो है राजा के लिए, पर वह पूर्ण रूप से लागू होता है टण्डनजी पर। प्रातःकालीन सूर्य में

मार्दव रहता है परन्तु समय आने पर अर्थात् दोपहर में वही सूर्य प्रचण्ड हो जाता है।

भट्टजी के समय में टण्डनजी कभी-कभी 'हिन्दी प्रदीप' में ए० एस० (A. S,) के नाम से लिखा करते थे। १९०५ की बात है। 'हिन्दी प्रदीप' में टण्डनजी ने आल्हा छंद में एक कविता लिखी जिसका शीर्षक था "बन्दर सभा महाकाव्य," इस महाकाव्य में कर्ज़न के दरबार पर उन्होंने व्यंग किया था। भट्टजी उस कविता को लेकर मालवीयजी महाराज के पास दिखलाने के लिए ले गये। सम्भवत: टण्डनजी भी साथ गये थे। मालवीयजी ने उसे पढ़ा और हँसकर कहा कि इसमें तो जेल जाने का सामान है। भट्टजी टण्डनजी की ओर लक्ष्य कर बोले "ई निबहुरिया जो न करावै सो थोड़ा है।" कविता 'तीन चुटकिन माँ' है और लम्बी है। पचपन छंदों में केवल थोड़े से नीचे उद्धृत करता हूँ।

बन्दर सभा महाकाव्य

(तीन चुटकिन माँ)

एक बात अद्भुत हम कह ही। यारो सुनियो कान लगाय।
इतने दिन वहिका में बीते। अता पता कोउ सकै न पाय॥
यक मैदान में भारी तखता। वापै चुनी रकाबी पास।
कुर्सिन पै बहु बानर बैठे। कलछिन लै लै खावैं मास॥
यह कौतुक अचरज हम देखा। पूछा एक बानर से जाय।
बोला बानर सुनो विदेसी। यह सब केवल मासैं खाँय॥
इतने मा मल्लूसा आये। बंदरी और मुसाहब साथ।
बंदरी बड़ी चमक चटकीली। थामें मल्लूसा को हाथ॥

ओढ़े गउन लगाये टोपी। हीरे जड़े पांत के पांत।
मटकत आवत भाव दिखावत। आखिर मेहरारू की जात॥

(मल्लूसा बोले :—लेखक)

आज बरस दिन फेर मिले हम। तुम्हें सुनावें निज करतूत।
कठपुतरी सम प्रजा नचावें। फैलावें स्वारथ के दूत॥
यह सब तुम तो जानत हुइ हौ। आपन एकै यही उसूल।
जौन भाँत से रुपया आवे। वही धर्म न्याय को मूल॥
ये ही ते दुइ न्याय धर्म दुइ। दुहरी सगरी बात हमार।
मुँह कुछ धरे पेट कुछ धारैं। दगा झूठ को करैं अहार॥
येहू से जो काम न निकलै। तो फिर कैद मार फिटकार।
तेहि पर बेदुम के जे बानर। उनका अस कै जकड़ा जाय॥
तनिकौ हाँथ पाँव फटकारें। हन कै थप्पड़ दिया लगाय।
दूसर धर्म बड़ा-फंदा यह। जो जो हमसे करैं विरोध॥
जहाँ ग्लास एक हमसे लेवैं। आवै तुरतहि उनका बोध।
सबहि लड़ाई छूट जात है। लेकचर देन जाँय सब भूल॥
झूठी दुमहु लगाय लेत हैं। औरहु बातैं करैं फजूल।
बिना कसाले का विहिस्त है। ऐमन अवसर फिर नहि आय॥
हमरो खर जो चढ़ा अकासा। सब कोउ पूँछ थाम चढ़ि जाय।

('खर' से तात्पर्य ईसा के गधे से हैं, जिस प्रकार हिन्दुओं के लिए गौ की पूँछ पकड़े बैतरिणी पार कर स्वर्ग जाने का विधान है उसी प्रकार ईसू मसीह के गदहे की पूँछ पकड़कर विहिश्त में पहुँच जाने पर व्यंग है—लेखक)

जितने बेदुम के हैं बानर। उनका हरी हरी दिखलाय।
चूनी भूसी उन्हें फेंक दें। बढ़िया माल लेंय गठियाय॥
मरैं भूख से जाड़े सेवा। हमसे यहि से कुछ नहि काम।
हमका खाली मिलै रुपैया। हम घर बैठ करैं आराम॥

जासूसी में निपुण सिपाही । तब छूटे साधन को कार ।
दगा झूठ विष मद मेहरारू । और छिपी तीखी तलवार ॥

(फौज पर अधिक खर्च करने पर व्यंग—लेखक)

या ही ते जे लड़ने वाले । उनकै हम बहु करते मान ।
सब से चूस रुपैया लावैं । इनही को बस देते दान ॥
बिरवन पेंड़न तुरतहि नासैं । धूम मचावैं लूटैं माल ।
सीधे जीवन मारैं काटैं । हमहूँ सुन सुन होय निहाल ।

(मल्लूसा का लेकचर खतम हुआ...लेखक)

तब ही ताली ऐसी बाजी । कानौ की चमड़ी उड़ि जाय ॥
फिर एक मोटा बानर बोला । धन्यवाद हम देंय पुकार ॥
मल्लूसा को जिनकी परजा । जो धन राखैं औरन मार ॥
जेहिमें हम कँह पालैं पोखैं । और बढ़ै हम कुल परिवार ॥

प्रयाग २४ जुलाई १९०५

—हिन्दी प्रदीप, जिल्द २७, संख्या ८

व्यंग्यात्मक निबन्ध लिखने में, व्यंग्योक्ति में भट्टजी को कमाल हासिल था । फिर उनके शिष्यों में उसका प्रभाव न पड़े, यह कैसे हो सकता था । प्रयाग की अहियापुरी भाषा में इसे 'बुरी बोलना' कहते हैं । वहाँ का मोहाविरा है 'फलाने अच्छी बुरी बोलते हैं ।'' 'अच्छी बुरी' का यह विरोधाभास अहियापुर की एक देन है । भट्टजी, टण्डन जी, स्वयं इन संस्मरणों का लेखक तथा भट्टजी के बहुत से शिष्य अहियापुरी हैं ।

'बुरी बोलना' कुछ कठिन नहीं है पर 'अच्छी बुरी बोलना'' एक आर्ट है, एक कला है जिसे सब नहीं बोल सकते । भट्टजी का परिवार इस कला का आचार्य था । उस अखाड़े के लत-मरुओं की भी पहलवानों में गिनती थी । अस्तु ।

भट्टजी 'न्याय श्रीखण्ड' शीर्षक लेख में लिखते हैं "श्रीखण्ड नाम है मलयगिरि के…चन्दन का…। यदि हम उसी चन्दन की उपमा ब्रिटिश राज्य के वास्तविक न्याय से दें तो कुछ अनुचित नहीं है किन्तु जिस प्रकार चन्दन वृक्ष में अनेक दुष्ट जीव लिपटे रहते हैं उसी तरह इस न्याय श्रीखण्ड के अवरोधक अनेक विघ्न उपस्थित करते हैं, यथा—

मूलं भुजंगैः कुसुमानि भृंगैः शाखा प्लवंगैः शिखराणि भल्लैः।
नास्त्येव तच्चन्दनपादपस्य यन्नाश्रितं दुष्टतरैश्च हिंस्रैः॥

इस ब्रिटिश न्यायकारी चन्दन वृक्ष के अंग-प्रत्यंग में अनेक अभिघातक दुष्ट जन्तु लिपटे हैं…इस वृक्ष का प्रधान या मूल भाग जो पार्लियामेन्ट है उसमें साधारण प्रजा के विपक्ष-मतावलम्बी कन्सर्वेटिव रूपी महाभोगी विषधर भुजंग लिपटे हुए हैं जिनके भयानक फण और महाविकराल फुफकार के त्रास से कोई भारतवासी प्रजा मूल तक नहीं पहुँच सकती…फिर उसकी बड़ी मोटी-मोटी शाखाएं जो जुडिशल तथा क्रिमिनल दीवानी या फौजदारी हैं उसपर महा-महा कौतुकी न्यायशील बन्दर बैठे हुए हैं…और अन्त को 'न्याय शाखाधीश-प्लवंगेभ्यो नमः' यह मंत्र पढ़ परस्पर बैर की हवनाग्नि में दोनों होम कर दिये जाते हैं। इसीसे किसी ने कहा भी है—

जो नहिं मानो हमरी सीख।
जाव अदालत माँगो भीख॥

उक्त न्याय चन्दन की और जो छोटी-छोटी डालियाँ पुलिस प्रभृति हैं उनमें बड़े भयानक भल्लूक जो दया का नाम नहीं जानते और पकड़ते रक्ताशय को सुखा देते हैं विराजमान

हैं……बाकी रहा उस चन्दन तरु का फूल और पुष्परस राजस्व-कोश—और इनकम-माल-खजाना—और आमदनी आदि सो उसके आस-पास झुंड के झुंड रसग्राही मधु-लोलुप द्वीप-द्वीपान्तर निवासी भृंग और कीट-पतंग गूँज-गूँज मीठा रस चूस रहे हैं तब भला ऐसे पक्षधारी अलि मंडल के सामने हम सब पक्ष-रहित दीन हीन जनों को उक्त न्याय चन्दन वृक्ष का पुष्प अथवा पुष्परस कैसे मिल सकता है—हाँ चाहो सड़ी गली पर्युषित रसहीन खूभी कूड़ा-करकट भले ही बटोर लें और महाप्रसाद के भाँति उसे उठाकर आँख से लगावें, माथे पर चढ़ावें, मन बहलावें, डींग मारें परन्तु उस सच्चे न्याय श्रीखंड से भेंट नहीं…रह गई उस चन्दन की शीतल छाया और ठंडी पवन सो पेटागिन मरो और उस ठंडी पवन को पी-पीकर रहो और उस शीतल छाया की तारीफ करते जाओ…।"

—हिन्दी प्रदीप १८८७ जिल्द १० सं० ११

इसे 'अच्छी बुरी बोलना' कहते हैं। मालूम नहीं भट्टजी ने इसमें क्या मसलहत समझी जो उन्होंने पण्डितराज जगन्नाथ के उस श्लोक का उद्धरण नहीं किया जो उन्हें बहुत पसंद था और जिसको वे अकसर पढ़ा करते थे।

पाटीर ! तव पटीयान् कः परिपाटीमिमामुरीकर्तुम् ।
यत्पिषतामपि नृणां पिष्टोऽपि तनोषि परिमलैः पुष्टिम् ।।

हे चन्दन ! तुम्हारी इस विचित्र परिपाटी का कौन पालन कर सकता है ? जो तुम्हें पीसता है उसीको तुम अपने परिमल से पुष्टि प्रदान करते हो अर्थात् उसीकी वाह-वाह कर उसे प्रसन्न करते हो। यदि इस श्लोक का उद्धरण कर देते तो लगे हाथ,

जम्हुआई पर चुटकी बजाने वाले चापलूसों पर भी एक हलकी सी चोट हो जाती। परन्तु भट्टजी बुद्धिमान् थे। उन्होंने समझा होगा कि सम्भव है कि ये चापलूस यह न समझ बैठें कि भट्टजी हमारी तारीफ़ कर रहे हैं। मुझे तो अकबर का यह शेर याद आ गया।

मिटाते हैं जो वो हमको तो अपना काम करते हैं।
हमें हैरत है उन पर जो कि इस मिटने पै मरते हैं॥

और यह 'न्याय श्रीखण्ड' शीर्षक लेख भट्टजी ने लिखा था सन् १८८७ में आज से ७५ वर्ष पूर्व जब ब्रिटिश साम्राज्य का सूर्य अपनी पूरी प्रचण्डता से तप रहा था, जब झुलस जाने के डर से कोई मुंह खोलने का साहस नहीं कर सकता था। गाँधीजी ने ठीक ही कहा था 'I have seen cowards encased in tough muscles and rare courage in the frailest body' (मैंने कायरों को तगड़ी मांसपेशियों में मढ़े हुए देखा है और मैंने दुबले-पतले निर्बल शरीर में असीम साहस भी देखा है) पंगु भट्टजी इस असीम साहस के ज्वलन्त उदाहरण थे। ब्रिटिश शासन के प्रत्येक अंग की इतनी कड़ी समालोचना करने पर भी सरकार इनके ख़िलाफ़ कोई कानूनी कार्रवाई नहीं करती थी इसका रहस्य समझ में नहीं आता था। मैंने एक स्थान पर कहा था कि इसका कारण भट्टजी का सौभाग्य एवं भगवत्कृपा हो सकती है। परन्तु ठीक होते हुए भी यह अनुमान तर्कसंगत न था। प्रायः जब कोई बात समझ में नहीं आती तो जनसाधारण उसे भाग्य और भगवान् के माथे मढ़कर छुट्टी पा जाते हैं। बात की तह तक जाने का प्रयास

नहीं करते। भट्टजी ने इस गुत्थी को स्वयं सुलझा दिया। वे 'अँगरेजी राज्य से उपकृत होकर भी हमें क्यों इससे ऊब होती है' शीर्षक लेख में लिखते हैं :—

"...हमारी अरुचि का कारण अति भूमिगत इनका प्रवृद्ध लोभ है जिससे हमको इनसे दिनोदिन ऊब होती जाती है... उधर लोभ इधर असन्तोष दोनों एक साथ बढ़ रहे हैं देखा चाहिए दोनों किस सीमा तक पहुँचेंगे और अन्त को क्या परिणाम पैदा करेंगे—सच है "लोभः पापस्य कारणम्" यह लोभ ही इनसे सब करा रहा है और लोभ ही में आये ये कभी अपनी स्वाभाविक न्यायपरायणता से विमुख हो बैठते हैं—इनकी सहिष्णुता का कारण भी अधिकतर इनकी लालच ही है जिससे यह हमारी कड़ी बातों को भी चुपचाप सह लेते हैं... हिकमत अमली से यहाँ तक सब रस खिंच गया और जो बचा है उसे भी इस बारीक बीनी से खींचे लेते हैं कि तरक्की और आगे बढ़ने का सब द्वार खुला रहने पर भी हम छूंछे और सर्वथा खाली हो जाने से कुछ करी नहीं सकते।"

—हिन्दी-प्रदीप १८९१ जिल्द १५ संख्या २

भट्टजी का हृदय बड़ा विशाल था। उनको किसी प्रकार का अत्याचार किसी प्राणी पर असह्य था। चाहे उसका क्षेत्र राजनीति हो या समाज हो अथवा धर्म हो। उनकी सहानुभूति केवल अपने देश ही के भीतर सीमित नहीं थी। यदि अँगरेजों को वे अन्य किसी देश के साथ अन्याय अथवा अत्याचार करते देखते तो उनका हृदय कराह उठता था और वे उसकी बड़ी कड़ी समालोचना करते थे और जो देश उस अन्याय को सहन

करता था, वहाँ के निवासियों को भी बहुत फटकारते थे। बर्मा के सम्बन्ध में भट्टजी लिखते हैं :—

"ये ब्रह्मावाले मनुष्य हैं अथवा कुत्ता बिल्ली से भी हीन कोई क्षुद्र पशु विशेष हैं जो बिना जरा भी सींग पूंछ हिलाये अँगरेजी शासन के वशीभूत हो गये। हम लोग तो अपने ही को क्षीण, हीन, दुर्बल और निःसत्व समझे हुए थे परन्तु ये ब्रह्मा देशनिवासी हमसे भी अधिक निष्पुरुषार्थी मालूम होते हैं।"

—हिन्दी प्रदीप दिसम्बर १८८५

इतना ही लिख देने से भट्टजी को सन्तोष नहीं हुआ। वे अपने 'बेकाम का काम' शीर्षक लेख में लिखते हैं :—

"हमारी गवर्नमेंट जो बुद्धिमानी और राजनैतिक कुशलता की कलंगी खोसे हुए है एक ऐसे काम में सिर पचा रही है जिसे हम अनुचित काम या बेकाम का काम कह सकते हैं—लार्ड डफरिन की क्षिप्रकारिता और लोभी प्रकृति का परिणाम गवर्नमेंट के लिए साँप छछूँदरवाली मसल का नमूना हुआ—"साँप छछूँदर यों ग्रस्यो कि उगलत लीलत पीर" यह ब्रह्मा का युद्ध क्या हुआ कि द्रौपदी की चीर हुई···गये थे वहाँ प्रजा को थीबा के अत्याचार से छुटाने और शान्ति स्थापन करने··· "मान न मान मैं तेरा मेहमान" थीवा अपने देश का स्वच्छन्द राजा था। उसके राज्य में कुछ लोग ऐसे भी रहे होंगे जो उसके अत्याचार के आखेट बन गये पर देश के देश को तो सन्तोष था कि हमारा राजा है हम किसी के अधीन नहीं हैं—आपको क्या पड़ी थी जो "दाल भात में मूसलचन्द" हो जा कूदे। क्या आप समस्त ब्रह्माण्ड के अन्याय मिटाने और शान्ति

स्थापन करने का ठीका लै उतरे हैं—अस्तु आपने जो कुछ किया अच्छा ही किया पर यह क्या कि "अन्यद्भुक्तं अन्यद्वान्तं" न्याय का अनुसरण कर रहे हैं—आपसे जो भूल बन पड़ी उसका फल आप ही भोगिए। हम सबों को उस भूल के कारण क्यों पीसे डालते हैं "आप आन की फूली निहारते हैं अपना टेंटर नहीं देखते" थीबा को आपने अत्याचारी निष्ठुर हिंसक माना और आप बड़ा न्याय कर रहे हैं जो हमारे देश के मनुष्यों का प्राण और धन ब्रह्मायुद्ध में होम किये देते हैं—दोहरा अन्याय—एक तो ब्रह्मा लेना ही कोई न्याय न था दूसरा अन्याय यह कि ब्रह्मा के विनाश करने में जो खर्च हो रहा है वह इनके लाइसेन्स आदि टैक्सों के द्वारा हमसे भर रहे हो इसीको हम "अन्यद्भुक्तं अन्यद्वान्तं" (कोई भोजन करै और किसी दूसरे के कै हो अर्थात् पाप कोई करे भुगतना किसी दूसरे को पड़े··· लेखक) कहेंगे—आपकी कुटिल नीति की बलिहारी धन्य हैं आप॥"

—हिन्दी प्रदीप, १८८६ जिल्द १० सं० १

'हिन्दी प्रदीप' की फाइल पढ़ने से आपको पता चलेगा कि ब्रिटिश सरकार की राजनीति के प्रत्येक अंग की भट्टजी ने निर्भय होकर इतनी मार्मिक व्याख्या की है कि उस समय के राजनीतिक वातावरण को देखते हुए आश्चर्य होता है। शासन का कोई भी हथकंडा ऐसा नहीं था जिसका पर्दाफ़ाश उन्होंने न किया हो। ब्रिटिश राज्य धर्मराज्य है, अँगरेज जब से भारत में आए तब से देश की बराबर तरक्की हो रही है, ऐसी ही कितनी अनर्गल बातें खुशामदियों के मुँह से सुनते-सुनते

भट्टजी के कान पक गये थे। आखिर उनसे न रहा गया। उन्होंने अपने 'हिन्दुस्तान की विद्यमान दशा और अँगरेजी राज्य की नीति' शीर्षक लेख में इसकी कड़ी समालोचना की। आप लिखते हैं :—

"ईस्ट इण्डिया कम्पनी के समय से जब यहाँ अँगरेजी सलतनत का शुरू था तब से अब जो हिन्दुस्तान की दशा का मिलान किया जाय तो जमीन और आसमान का अन्तर पाया जाता है—पहिले की अपेक्षा अब यह हिन्दुस्तान रुपये में एक आना न रहा। पहिले जहां यह देश सोने फूल फूला था वहाँ लोहा भी मवस्सर नहीं है—जिस बात पर अशरफियाँ लुटती थीं उसमें अब कोइले पर भी मोहर की जाती है तो भी कठिनाई से निभता है—हींग निकल गई केवल महक बच रही······गुरु और उस्ताद लोगों ने बात-बात में पालिसी को दखल दै हिकमत के साथ निचोड़ते-निचोड़ते यहाँ तक सब रस निचोड़ लिया कि सीठी मात्र बच रही। उस सीठी को भी पालिटिक्स के पेच में रख खूंद रहे हैं—इस खूँदने को हमारे तालीमयाफ्ता सुशिक्षित नवयुवक प्रोग्रेस और इमप्रूवमेंट कहते हैं······"

इस मौके पर मुझे अकबर के कुछ शेर याद आ गये, उन्हें कहता हूँ :—

सोचो कि आगे चल कर क़िस्मत में क्या लिखा है।
देखो घरों में क्या था और आज क्या रहा है॥
हुशियार रह के पढ़ना इस जाल में न पड़ना।
यूरप ने ये किया है यूरप ने वो किया है॥

जिस रोशनी में लूट ही की आपको सूझे।
तहज़ीब की मैं उसको तजल्ली न कहूँगा ॥

भट्टजी उपर्युक्त लेख में आगे कहते हैं :—

"जी हाँ आप ठीक कहते हैं इस धर्मराज्य की कहाँ तक तारीफ करें। तारीफ करते-करते जुबान खियाय गई। इसके एक-एक अंग की बारीकी सोचते-सोचते चित्त चमत्कृत होता है··हमें तो यह धर्मराज्य केवल एक ढकोसला ही ढकोसला और आवरण-मात्र मालूम होता है। डूब के देखो तो इस धर्मराज्य में बिलकुल पोल ही पोल देख पड़ती है। कोई अंग इसका शुद्ध नहीं बचा जिसमें कपट और पालिसी का दखल न हुआ हो। जिस महकमे की तले तक छानबीन कीजिये उसीमें अनीति का बिस्तार पाइयेगा······।"

—हिन्दी प्रदीप, १८९१ जिल्द १४ संख्या ११

छोटे बालक ही भारत के भविष्य के आधार हैं। शासन को उनके शिक्षण का पूर्ण प्रबन्ध करना चाहिए और शिक्षण का खर्च इतना अधिक नहीं होना चाहिए कि उसका भार उनके अभिभावक उठा न सकें। भट्टजी इसका महत्त्व जानते थे और जब देखते थे कि सरकार इसकी ओर ध्यान नहीं दे रही है तो समय-समय पर सरकार को वे खूब लथेड़ते थे। शिक्षा-विभाग की कई बार उन्होंने बड़ी कड़ी समालोचना की है। भट्टजी अपने 'इसे शिक्षा-विभाग कहें या प्रजा के धन निचोड़ने की कल' शीर्षक लेख में लिखते हैं :—

"हम बार-बार चिल्लाते ही रहे कि शिक्षा-विभाग में बालकों के पढ़ाने में जो हम लोगों का बेहद्द खर्च पड़ता है उसे

गवर्नमेंट हम लोगों पर दयादृष्टि रख कम कर दे—वहाँ घाव पर घाव के समान तालीम का खर्चा बढ़ता ही जाता है······ इलाहाबाद का जिला स्कूल नहीं है "मनीस्क्वीजिंग मेशीन" रुपया निचोड़ने की कल है···क्या सर्वथा यही मंजूर है कि हम लोग मूर्ख रहें ? तालीम का खर्चा नित-नित बढ़ता हो जाता है तो अन्त में इसका परिणाम और क्या हो सकता है।"

—हिन्दी प्रदीप, १८९३ जिल्द १७ सं० १–२

अकबर साहब ने तालीम पर इतना अधिक खर्च देखकर यह व्यंग किया था :—

तालीम है लड़कों की कि इक दामे-बला है।
ऐ काश कि इस अहद में हम बाप न होते ॥

भट्टजी की राजनीतिक विचारधारा का विश्लेषण करने का, जहाँ तक मुझसे हो सका, मैंने भरसक प्रयत्न किया है। उसे पूर्णरूप से मूर्त करना मेरी शक्ति के बाहर है। अतएव उनके संस्मरण के इस अंग को यहीं समाप्त करता हूँ। अगले संस्मरण में उनकी हिन्दी-सेवा और 'हिन्दी प्रदीप' के लालन-पालन पर प्रकाश डालूंगा।

ग्यारह

अब मैं भट्टजी के 'हिन्दी प्रदीप' और उनकी हिन्दी-सेवा के सम्बन्ध में लिखूँगा ।

सितम्बर सन् १८७७ आधुनिक हिन्दी-साहित्य के इतिहास में चिरस्मरणीय रहेगा । यह महीना उस समय की लावारिस एवं उच्छृंखल हिन्दी की अनेक शैलियों का चत्वर स्थान (चौराहा) था । इसी चौराहे पर उस दिन भट्टजी ने 'हिन्दी प्रदीप' को अपने स्नेह से भरकर प्रज्ज्वलित किया था । यह एक ऐतिहासिक घटना है । यहाँ से एक नवीन युग का आरम्भ होता है जिसके प्रवर्तक भट्टजी थे । अतः उसे हम 'भट्ट युग' कहेंगे । उसमें एक निरालापन था जो अन्यत्र नहीं मिलता । इस युग में भट्टजी ने कतिपय हिन्दी-हितैषियों के साथ हिन्दी के लिए एक ऐसे राजपथ का निर्माण किया जिस पर वह अबाध गति से उत्तरोत्तर "लघ्वी पुरा वृद्धिमती च पश्चात्" अग्रसर होने लगी और "शम्भोर्जटाजूटतटादिवाप:" अथवा "मुखादिवाथ श्रुतयोर्विधातुः" (माघ) के समान वह खूब निखरी । जिस प्रकार भगवान् शंकर की जटा से भागीरथी के प्रवाह का,

अथवा प्रजापति के मुख से चारों वेदों का अवतरण हुआ, उसी प्रकार भट्ट युग के स्रोत से आधुनिक हिन्दी का विस्तीर्ण विकास हुआ। भारवि ने ठीक ही कहा है—

स तु तत्र विशेषदुर्लभः सदुपन्यस्यति कृत्य वर्त्म यः॥

वही दुर्लभ है जो मार्ग-प्रदर्शन करता है।

'हिन्दी प्रदीप' ने उसी मार्ग-प्रदर्शन का काम किया। सन् १८७७ में भट्टजी की आयु ३३ वर्ष की थी। पूर्ण युवावस्था थी। जिस अवस्था में शुकनास के अनुसार "यौवनारम्भे प्रायः शास्त्रजलप्रक्षालननिर्मलाऽपि कालुष्यमुपयाति बुद्धिः" (यौवन के आरम्भ में शास्त्र-जल से प्रक्षालित होने पर भी प्रायः बुद्धि कलुषित हो जाती है) परन्तु गम्भीर मनन एवं भगवदाराधन और हिन्दी की सेवा की लगन के कारण साहित्य की एक-एक अदा पर न्योछावर हो जानेवाला यह व्यक्ति इस सब बवाल से केवल बचा ही नहीं रहा, बल्कि उसने नवयुवकों के सामने सच्चरित्रता का एक आदर्श स्थापित कर दिया। 'जिगर' के शब्दों में—

"हुस्न की इक इक अदा पर जानो-दिल सदक़े, मगर
लुत्फ़ कुछ दामन बचा कर ही निकल जाने में है।

जब किसी मनुष्य का जन्म होता है उसी समय उसके भाग्य का निर्णय हो जाता है। यदि प्रजापति को किसी व्यक्ति-विशेष के भाग्य के सम्बन्ध में कुछ सन्देह होता है तो वे स्वर्ग में इसका इलेक्शन कराते हैं। जितने देवता, गंधर्व, किन्नर इत्यादि हैं वे सब वोट देते हैं। पता नहीं, स्त्रियों को वहाँ वोट देने का अधिकार है या नहीं। वहाँ न तोकनवैसिंग ('जुन्नियाने') की गुंजाइश

होती है और न जाली वोट ही गुजरते हैं। 'बैलट बाक्स' के बदलने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि वोट देनेवाले इन्द्र की सभा में हाथ उठाकर वोट देते हैं।

'शक्रस्य दिव्या सभा। विस्तीर्णा योजनशतं शत-मध्यर्धमायता। वैहायसी कामगमा पंचयोजनमुच्छ्रिता' स्वर्ग में इन्द्र की सभा सौ योजन लम्बी, पचास योजन चौड़ी और पाँच योजन ऊँची है। वह आकाश में स्थित है और इच्छानुसार एक स्थान से दूसरे स्थान पर जा सकती है। इतने बड़े कमरे में सभी वोट देनेवाले सुगमता से समा जाते हैं। ऐसा अनुमान है कि भट्टजी के जन्म के समय वोटिंग हुई थी कि यह 'मुस्तेख़ाक़' संसार में जन्म लेकर भाग्यशाली होगा या नहीं। जिस परिवार में भट्टजी ने जन्म लिया था उसका रवैया था "ख़याले हुब्बे-क़ौमी पीछे और फ़िक्रे-शिकम पहिले।" ऐसे वातावरण को देखते हुए प्रजापति को सन्देह होना स्वाभाविक ही था। बहरहाल वोटिंग हुई और सब वोटरों ने एकमत होकर वोट दिया कि यह व्यक्ति संस्कृत का प्रकांड विद्वान् तथा हिन्दी-साहित्य का एक युग-प्रवर्तक होगा और हिन्दी की सेवा मरण-पर्यन्त कठिनाइयों को झेलते हुए तन मन धन से करेगा। यही बात प्रजापति ने भट्टजी के लिलार में लिख दी। वही होकर रहा। यह बात काल्पनिक है परन्तु जब स्वर्ग ही काल्पनिक है तो उसकी व्यवस्था के सम्बन्ध में कल्पना क्षम्य है। थोड़ा विषयान्तर हो गया। क्षमाप्रार्थी हूँ। यदि 'हिन्दी प्रदीप' के जन्म को हम ऐतिहासिक घटना कहें, जैसा कि मैं कह चुका हूँ, तो अनेक प्रकार की कठिनाइयों को झेलकर उसे हवा-बतास से

बचाते हुए उसका लालन-पालन और स्नेह-सिञ्चन, एक करुण कहानी है। उसको मूर्त करने में मैं असमर्थ हूँ। अतएव भट्टजी ने स्वयं अपने कलम से 'निज वृतान्त' शीर्षक लेख में जो कुछ लिखा है उसका एक अंश उद्धृत कर संतोष करूँगा।

"पुराना चर्खा ओटने की भांति निज वृत्तान्त कह सुनाना आपका बहुमूल्य समय नष्ट करने की भांति है। किन्तु कई मित्रों के अनुरोध से कि प्रदीप का संक्षिप्त इतिहास जानने की बहुतों की लालसा है, हमें ऐसा करना पड़ता है। ईश्वर के अनुग्रह से अब इस समय हिन्दी-साहित्य-सेवी बहुत हो गये हैं और दिनों-दिन उनकी संख्या बढ़ती जाती है.........किन्तु एक समय वह भी था जब कुटिल आकृति धारण करनेवाली वामावर्तिनी कराला उर्दू के सिवाय देश में हिन्दी का नाम भी न था। दाहिनी ओर से हिन्दी लिखते देख लोगों को अचरज होता था कि क्या कोई ऐसी भी लिखावट है जो बाँयें हाथ की ओर से नहीं लिखी जाती। वर्तमान हिन्दी-साहित्य के जन्मदाता प्रातःस्मरणीय सुगृहीत नामधेय बाबू हरिश्चन्द्र तथा दो एक उन्हीं के समकक्षों को छोड़ सुलेखकों का सर्वथा अभाव था...... बाबू साहब के इतने परिश्रम पर भी हिन्दी बालिका की मुग्ध दशा बनी रही..... भाषा के ऐसे बाल्यकाल में हिन्दी के हितू और प्रेमी कतिपय छात्रों की एक मण्डली हमारी जन्मदाता हुई। एक-एक छात्र ने पाँच-पाँच रुपये चन्दा दे कुछ रुपये मूलधन के भांति इकट्ठे कर प्रति मास १० पृष्ठ का एक मासिक पत्र निकालना आरम्भ किया और पुस्तकाकार इसलिए रक्खा कि जिस्में पंसारियों की पुड़िया बांधने के काम का न रहे वरन्

जिल्द बाँध लोग रख सकें.........किन्तु मूँड़ मुड़ाते ही ओले पड़े। हमें प्रगट हुए देर न हुई थी कि प्रेस एक्ट का जन्म हुआ। प्रेस एक्ट का नाम सुनते ही छात्रमण्डली छिन्न-भिन्न हो गयी। निज उन्नति के आगे हिन्दी की उन्नति का उत्साह भंग हो गया.........पर हम अंगीकृत का परिपालन अपने जीवन का उद्देश्य मान प्रतिदिन इसे अधिक-अधिक अपनाते ही गये...... आर्थिक कष्ट जो इसके पीछे उठाते रहे सो एक ओर रहे, कर्मचारियों की निगाह में चढ़ जाना आर्थिक कष्ट से कुछ कम नहीं...... समाज में आदर पाना एक ओर रहे। जहाँ जाते थे वहीं हँसे जाते थे और हमारी जीट उड़ाई जाती थी।......... इतनी लालसा हमें बनी ही रही कि अपने निज का एक छोटा-सा प्रेस खरीद इसे पाक्षिक कर दिखाते.........पर यह हमारी लालसा इस जीवन में काहे को पूरी होनेवाली है......पर ऐसा समय कब आवे कौन जानता है। इस समय तो हमारा वही हाल है जैसा कविमण्डली-मण्डन श्रीहर्ष ने कहा है—

"यथा यूनस्तद्वत्परमरमणीयापि रमणी
कुमाराणामन्तःकरणहरणं नैव कुरुते।"

अतीव सुन्दरी स्त्री जैसे युवा पुरुष का हृदय तो चुरा लेती है परन्तु बच्चों पर उसका कोई भी असर नहीं होता।

अथवा

"उत्पत्स्यते मम तु कोपि समानधर्मा
कालो ह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी।"

कोई न कोई तो आगे चलकर हमारी सी लगनवाला पैदा

होगा, क्योंकि काल अनन्त है और पृथ्वी बहुत विस्तीर्ण है।"

—हिन्दी प्रदीप, १६०५ जिल्द २७ सं० १२

यद्यपि 'हिन्दी प्रदीप' के जन्म के पहिले भट्टजी का साहित्यिक जीवन प्रायः संस्कृत के "षडंग सहित वेद-समुदायकोविदत्वम्, काव्य नाटक पुराण गण नपुण्यम्"...(दण्डी दशकुमारचरितम्) के उपार्जन ही में बीता, परन्तु वह तो स्वान्तःसुखाय मात्र था, वे समझते थे कि केवल संस्कृत के द्वारा जन-साधारण में जागृति उत्पन्न नहीं की जा सकती क्योंकि उस काल में संस्कृत की कौन कहे, हिन्दी ही के प्रति जन-साधारण में उदासीनता थी। जनसंख्या को देखते हुए बहुत थोड़े से लोग पढ़-लिख सकते थे; उर्दू का बोलबाला था, हिन्दी उपेक्षित थी, इने-गिने लोग सामयिक प्रश्नों पर विचार करते थे, अपना भला-बुरा समझने की शक्ति का ह्रास था। और सबके ऊपर, शासन का अनवरत प्रयत्न था कि लोगों की आँखें न खुलने पावें। आँख खुलने ही से लोग भड़कते हैं। मेरे पैत्रिक मकान के अति निकट एक तेली रहता था। उसका नाम 'गंगा' था परन्तु सब लोग उसे 'गँगुवा तेली' कहते थे। वृद्ध था। दुनिया देखे हुए था, बोलते वक्त तुतलाता था। उसीकी दूकान के नीचे से प्रतिदिन भट्टजी आया-जाया करते थे क्योंकि भट्टजी के मकान से चौक जाने के लिए वही एक रास्ता था। गँगुवा जब कोल्हू पेरने लगता तो बैल की आँखों में पट्टी बाँध देता था और "थाबछ भया, थाबछ (शाबाश) बच्चा, तोर माई पहाड़ चढ़ै" कहता हुआ बैल को निरन्तर हांकता रहता था। एक दिन आते-जाते भट्टजी ने उससे पूछा "कहो गंगा ! बैल की आँख में पट्टी काहे

बाँध देत हो ? बिचारा देख भी नहीं सकता" गंगा ने उत्तर दिया "ता तरी थरतार ! एसे बाँधित है कि जेमे अवैया-जंवैया क्षा देथ ते भड़तैं न" (का करी सरकार ! एसे बांधित है कि जेमे अवैया-जवैया का देख के भड़कै न) बात पते की कही। भट्टजी हँस दिए पर बात दिल में गड़ गई। देश और समाज की ऐसी परिस्थिति में जब आगे बढ़ने के मार्ग में पग-पग पर अड़ंगे थे, 'हिन्दी प्रदीप' का जन्म हुआ। दैवसंयोग से भारतेन्दु हरिश्चन्द्र भी उन्हीं दिनों प्रयाग आए हुए थे। उन्हें यह योजना बहुत पसन्द आयी और उन्होंने 'हिन्दी प्रदीप' के लिए निम्नलिखित पंक्तियाँ स्वयं रचकर दीं जो उसके प्रत्येक अंक के मुख-पृष्ठ पर 'प्रदीप' के निर्वाण तक छपती रहीं :—

> शुभ सरस देश-सनेह पूरित प्रगट ह्वै आनँद भरै॥
> बचि दुसह दुर्जन वायु सों मनि दीप सम थिर नहि टरै॥
> सूझै विवेक विचार उन्नति, कुमति सब या में जरै॥
> 'हिन्दी प्रदीप' प्रकाशि मूरखतादि भारत-तम हरै॥

'हिन्दी प्रदीप' निकलने को तो निकल गया और जोर-शोर से निकला, पर समुद्र से अमृत के साथ विष भी निकला और वह विष था 'प्रदीप' की गरीबी, जो उसके जन्म से लगाकर निर्वाण तक ३३ वर्ष उसके साथ ही साथ रही। भट्टजी अपने ग्राहकों से, जिनकी संख्या दो सौ से कभी अधिक नहीं हुई, बराबर चन्दा चुकाने के लिए कहते रहते थे। कभी-कभी बुरी तरह से फटकारते भी थे पर चिकने घड़े की तरह उन पर कुछ असर न होता था। इसी अर्थाभाव के कारण 'प्रदीप' कभी समय से न निकल पाता था।

"ग्राहकजन आप लोग जो इस पत्र की आयुष्य चाहते हो तो द्रव्य से हमारी सहायता कीजिए नहीं तो अब इसका बोझ हम से नहीं संभाला जाता, कहाँ तक घाटा उठाते जायँ। यदि आप लोगों ने इस बात पर ध्यान दिया तो दिया, नहीं तो इतिश्री तो हुई है।"

—हिन्दी प्रदीप, जनवरी, १८८०

इतने पर भी जब ग्राहकों के सर पर जूँ न रेंगी तो फटकार सुनिए :

"हम अपने नादेहन ग्राहकों से निवेदन करते हैं कि वे अब भी हमारा मूल्य जो कुछ उनसे बाकी है इस मास के भीतर चुका दें नहीं तो अब हम उनके नाम-गोत्र का पत्रा खोलेंगे, विशेष निवेदन उनसे है जो वर्ष भर बराबर पत्र लै दाम देने की जून पत्र लौटाय चुपचाप बैठ रहे हैं......"

—हिन्दी प्रदीप : १८८०, जिल्द ३, सं० ६

इसी प्रकार अर्थाभाव का रोना भट्ट जी को बराबर लगा रहा। परन्तु वे उससे डट कर मोर्चा लेते रहे।

न फेरो उससे मुँह 'आतिश' जो कुछ दरपेश आजावे
दिखाता है जो आँखों को मुकद्दर देखते जाओ...

'आतिश'

सन् १८७७ में जैसे ही 'हिन्दी प्रदीप' निकला 'मूड़ मुड़ाते ही ओले पड़े।' इसको प्रकट हुए देर न हुई थी कि प्रेस एक्ट का जन्म हुआ। भट्टजी ने ओले के सामने अपना सर नहीं झुकाया बल्कि 'हिन्दी प्रदीप' में ही उसकी कड़ी समालोचना की। अपने 'देशी भाषाओं के पत्रों के विषय के कानून की समालो-

चना' शीर्षक लेख में आप लिखते हैं :—

"इस एक्ट के देखने से मालूम होता है कि एक बिल गवर्नर जनरल की कौंसिल से और भी पास हुई है, इस हेतु कि जो अखबार देशी भाषाओं में छपते हैं वे सरकार के विरुद्ध बहुत होते हैं और इन अखबारों के पढ़ने वाले बहुधा गँवार और जाहिल होते हैं जिसका परिणाम यह होता है कि सरकार की ओर से उनकी तबियत बहक जाती है और ब्रिटिश गवर्नमेंट के लायल सबजेक्ट होने के एवज वे एक प्रकार के सरकार के विरोधी हो जाते हैं······पहिले यह लिखना कि देशी भाषा के अखबार लिखने वाले अच्छी तरह पढ़े-लिखे नहीं होते, इसके कदाचित यह माने हैं कि वे लोग एम० ए०, बी० ए० की परीक्षा नहीं दिए रहते अथवा कोट पतलून पहिनने वाले वे लोग नहीं होते या अपनी मातृभाषा और उत्तम उत्तम पुरानी रीति-नीति नहीं छोड़ देते।......परन्तु पढ़े लिखे लोगों की छान करने में यदि बुद्धि को भी कुछ अधिकार दिया जाय तो यह कुछ और ही कहती है अर्थात् पढ़े लिखे वे कहलाते हैं जो सदा सच बोलते हों, उचित अनुचित, न्याय अन्याय का विचार रखते हों, ईमानदार धर्मिष्ठ और देश हितैषी हों······हमारे देशी भाषा के अखबारों के एडिटरों में अँगरेजी की चाहे वैसी योग्यता न हो, पर अँगरेजी पढ़ने के पूर्व कथित गुण उनमें सब होते हैं, इससे भी प्रगट होता है कि मेम्बरान कौंसिल··· जो केवल देशी भाषा के अखबारों को पढ़ते हैं और अँगरेजी में चन्दाँ वाकफियत नहीं रखते क्या जाहिलों के जुमले में वे भी रक्खे गये ?······इतिहासों में यह भी एक बात लिखने

लायक हो गयी कि अँगरेजी सरकार ने हिन्दुस्तानियों को स्वच्छन्दता दै फिर उनसे छीन ली``हम लोगों के कहने की कौन सुनता । इससे तो अधिक लोगों को कुछ पीड़ा भी नहीं पहुँची केवल उन्हीं थोड़े से मनुष्यों को जो अखबार पढ़ते लिखते हैं और जो इस बिल में गँवार और जाहिल समझे गये हैं ।।''

—हिन्दी प्रदीप, १८७८, जिल्द १, सं० ८

इस पर एक शायर का व्यंग्य सुनिए :—

सच कहा था यह किसी दोस्त ने मुझसे 'सीमाब' ।
अम्न हो जाय अगर मुल्क में अख़बार न हो ।।

'सीमाब'

न रहेगा बाँस न बजेगी बाँसुरी ।

पाठक इसे भली भाँति समझ लें कि भट्टजी का जन्म कोरी राजनीति के लिए नहीं हुआ था, न निरे साहित्य के लिए और न केवल समाज सुधार के लिए । उनका जन्म हुआ था दुर्नय के घोर विरोध के लिए, चाहे वह शासन में हो अथवा समाज में हो या व्यक्ति-विशेष में हो । उनका जन्म हुआ था उस असीम, सच्चिदानन्द, दीनबन्धु, दीन-वत्सल परमेश्वर की भक्ति के लिए जो सर्व-सौन्दर्य का स्रोत है, जो अपने भक्त के हृदय में असुन्दर से घृणा और सुन्दर से प्रेम उत्पन्न करता है । भट्टजी ने जो ३३ वर्ष निरन्तर लगन से हिन्दी की सेवा की, वह व्यवसाय की दृष्टि से नहीं । उसमें तो उन्हें बराबर घाटा ही होता रहा । घाटा होते हुए भी उन्होंने 'हिन्दी प्रदीप' को बन्द नहीं किया । घाटे के कारण अथवा घाटे की आड़ में तो

अब इस युग में हिन्दी के अखबार बन्द होते हैं। और उसे पूँजीपति बन्द करते हैं। गरीब नहीं। भट्टजी हिन्दी की सेवा इसलिए करते थे कि आततायियों की पोल खुले और दलित गरीब की आँख खुले। वे इसलिए हिन्दी की सेवा करते थे कि जनसाधारण की मानवता का स्तर ऊँचा हो। भट्टजी के उपर्युक्त दृष्टिकोण को जो नहीं समझता वह भट्टजी को नहीं समझ सकता।

'हिन्दी प्रदीप' के निकलते ही भट्टजी अपने उद्देश्यों की पूर्त्ति में लगन के साथ जुट गए। 'प्रदीप' में विविध विषयों पर ज़ोरदार लेख निकलने लगे। लेखक प्रायः भट्टजी ही होते थे। भट्टजी स्पष्ट वक्ता थे। कहते थे "स्पष्ट वक्ता न वञ्चकः" खरी कहने वाला धोखेबाज नहीं होता। अकबर का यह शेर भट्टजी पर पूर्ण रीति से लागू होता था :—

यह बुरी बात मुझमें है 'अकबर'।
दिल में जो आये कह गुज़रता हूँ॥

'बुरी बात' से मतलब उनका 'भली बात' से था।

भट्टजी सर्वदा प्रयत्नशील रहे कि हिन्दी भाषा के साहित्य की वृद्धि हो। पर यह हो कैसे ? आप लिखते हैं :—

"साहित्य सभ्यता का प्रधान अंग है। यह कभी सम्भव नहीं कि कोई देश सभ्यता में बढ़ जाय और साहित्य उस देश की भाषा का हटा रहे...अब सोचना चाहिए कि पहले पहल साहित्य की वृद्धि का क्या सहारा है...इस दशा में भी जब कि सब ओर से नैराश्य और अनुत्साह का तिमिर छाया हुआ है। जो लोग अपने तन का लहू सुखा कर प्राणपण की बाजी

लगाए हुए भाग्यहीना हिन्दी के साहित्य की वृद्धि में लगे हुए हैं ऐसे सफल जन्मा क्या कम धन्यवाद के योग्य हैं ?......जब तक हमारी भाषा के साहित्य की उन्नति न होगी तब तक इस सभ्यता को भी बिजली की चमक के समान क्षणिक मानना चाहिए, चाहे हमारे नवशिक्षित नाक फुलाय सभ्यता सभ्यता पुकार कितना ही गाल बजाया करें पर पूर्ण सभ्यता बिना देश भाषा की उन्नति के सर्वथा असंभव है।"

—हिन्दी प्रदीप, १८८७, जिल्द १०, सं० ८

भाषा कैसी होनी चाहिए—इस विषय पर भट्टजी ने बहुत मनन किया था और समय-समय पर अपना मत 'हिन्दी प्रदीप' में प्रकट करते रहते थे। वे चाहते थे भाषा ऐसी हो जो जनसाधारण की समझ में आ सके। यद्यपि उर्दू ज़बान उन्हें सोहाती नहीं थी परन्तु वे उन उर्दू शब्दों के, जो हमारी बोल-चाल में घुस आये हैं और जिन्हें हमने किसी भी कारण से अपना लिया है, विरोधी न थे। वे स्वयं उनका उपयोग करतें थे। बक़ौल 'हफ़ीज़' जालन्धरी के :—

'हफ़ीज' अपनी बोली मुहब्बत की बोली,
न उर्दू न हिन्दी न हिन्दोस्तानी ॥

भट्टजी भाषा में क्लिष्ट संस्कृत शब्दों के ठूँसने और क्लिष्ट फारसी और अरबी शब्दों के प्रयोग के विरोधी थे।

भट्टजी के समकालीन विचारक महाकवि अकबर ने इस पर व्यंग्य किया है—

"हम उर्दू को अरबी क्यों न करें, वो उर्दू को भाषा क्यों न करें
झगड़े के लिये अखबारों में मज़मून तराशा क्यों न करें ॥
आपस में अदावत कुछ भी नहीं लेकिन एक अखाड़ा क़ायम है
जब इससे फ़लक़ का दिल बहले, हम लोग तमाशा क्यों न करें ॥"

सं० १८८५ में अपने 'भाषाओं का परिवर्तन' शीर्षक लेख में आप लिखते हैं :—

"विचार कर देखिये तो भी जो हिन्दी हम आजकल बोलते हैं वह पहिले क्या थी और अब क्या है। अब फारसी उर्दू शब्द इसमें मिलते जाते हैं क्योंकि जब आपके बड़े-बड़े प्रामाणिक हिन्दी कवियों ने फारसी अरबी के शब्द ग्रहण किये तो हमारे और आपके निकाले वे सब शब्द हमारी भाषा की नस नस में अन्तः प्रविष्ट से हो रहे हैं, क्योंकर निकल सकते हैं...नए शब्दों के भरती होने से कुछ डर की बात नहीं है बल्कि पढ़े लिखे लोग या सर्वसाधारण उन शब्दों को अपना कर लें तो भाषा और भी पुष्ट हो जायगी...पुरानी हिन्दी ही को लीजिए। पुराने ठेठ हिन्दी शब्दों को कोई अच्छी तरह सोच-विचार कर लिखने वाला फिर से जिला कर समाज में प्रचलित कर सकता है। अपनी निज की भाषा के काम-काजी शब्दों को मर जाने या मृतकप्राय हो जाने से बचाना अच्छे लेखकों का काम है..."

—हिन्दी प्रदीप, १८८५, जिल्द ८ सं० १०

अन्यत्र आप लिखते हैं..."आप जो भाषा बोलेंगे वह किसी न किसी साँचे में ढली होगी। तो वह कैसी हो और किस साँचे में ढले, इसका तय करना अत्यन्त

आवश्यक है···इसलिए यही बात ध्यान में आती है कि कुल, जाति या धर्म नहीं वरन् जैसे लोगों में कोई रहेगा वैसी ही उसकी भाषा अदल-बदल कर हो जायगी···पर भाषा का पूरा-पूरा जोर देखने के लिए उन लोगों पर ध्यान दीजिए जो एक ढंग के 'शून्य भीति' हैं, अर्थात् जिन पर किसी तरह की शिक्षा मात्र ने अपना रंग नहीं जमाया है और जो घर में तथा घर के बाहर छोटे-बड़े सबसे एक तार की अपनी सहज भाषा बोलते हैं। सच पूछिए तो ऐसी भाषा से बढ़कर संसार में कोई दूसरी मीठी भाषा नहीं हो सकती। इस कारण अगर ठेठ हिन्दी शब्दों की आपको खोज है तो गत काल के या वर्तमान समय की नपी-जोखी प्रायः एक ही ढर्रे पर चलने वाली कवियों की वाणी से लेकर सहस्रों धारा से चलती हुई सजीव ग्रामीण भाषा को देखिए···कितने हजारों लाखों शब्द ऐसे भी मिलते हैं जिनके पुष्टभाव या अर्थ-गौरव को देखकर चकित ही हो जाना पड़ता है···तात्पर्य यह कि जैसा कुछ सरल भाव मिठास मातृभाषा में भरा है वह बाहर की सभ्य या साधु भाषा में आ ही नहीं सकता···(मेरा तात्पर्य) उससे है जिसका नाम (provincial dialects) भिन्न-भिन्न स्थानों की भाषा है जो घर के भीतर बोली जाती है···जिसकी सहज गति या प्रवाह होने के कारण जिसमें एक विचित्र लालित्य, माधुर्य या कोमलता आ जाती है...जो दुर्भाग्य से मनुष्यों की सभ्य मंडली से निकालकर फेंक दिये गये हैं...सच पूछिए तो इस थोड़े से समय में हिन्दी की कुछ कम विजय नहीं हुई"। वे ही सब शब्द जो किसी समय गँवारी भाषा समझे गये थे। सो अब काल-

चक्र के हेर फेर से अधिकारशाली पढ़े लिखे लोगों के बर्ताव में आने लगे वरन् ठेठ से ठेठ हिन्दी शब्दों की खोज लोगों को है…सच है जिस पत्थर को म्यामारों ने बेकाम जान फेंक दिया वही कोने का सिरा हुआ…आप निश्चय जानिए ऐसे ही शब्दों की पूरी विजय होगी।"

—हिन्दी प्रदीप, १९०४ जिल्द २६ सं० ८-९-१०

यह भट्टजी की भविष्यवाणी थी। यह भविष्यवाणी बहुत कुछ तो पूरी हो ही गई परन्तु वह सर्वांगपूर्ण हो जाती अगर उसकी पूर्ति के मार्ग में अविवेक के अड़ंगे न लग जाते।

दोस्तों से इस क़दर सदमे उठाये जान पर
दिल से दुश्मन की अदावत का गिला जाता रहा

'आतिश'

अकबर साहब दूरदर्शी थे, वे समझ गए थे कि हिन्दी की बाढ़ को रोकना नामुमकिन है और उसे रोकने में सरासर नुक़सान है। इसीलिए मुसलमानों को उन्होंने यह नसीहत दी थी कि

दोस्तो ! तुम कभी हिन्दी के मुख़ालिफ़ न बनो।
बाद मरने के खुलेगा कि यह थी काम की बात।

बारह

हिन्दी और संस्कृत का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध—भट्टजी यह जानते थे कि बिना संस्कृत की क़दर किये हिन्दी का उद्धार सम्भव नहीं है और साथ-साथ यह भी कि संस्कृत की क़दर तब तक नहीं हो सकती जब तक रोज़मर्रा के व्यवहार में, कचहरियों में, नागरिक संस्थाओं में हिन्दी का प्रचलन न होगा। संस्कृत और हिन्दी का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। एक का उत्थान दूसरे पर निर्भर है, एक का पतन दूसरे के पतन का कारण है। अपने 'संस्कृत का पढ़ना-पढ़ाना क्यों घटता जाता है' शीर्षक लेख में भट्टजी लिखते हैं—

"स्मरण रहे भाषा वही तरक्की पाती है जिसे सर्वसाधारण आदर देते हैं—संस्कृत के न पढ़ने-पढ़ाने का सबसे बड़ा और मुख्य कारण कचहरियों में हिन्दी का न रहना है—…ऐसा ही महाराष्ट्र देश में मराठी, गुजरात में गुजराती कचहरी की भाषा रहने से उन-उन प्रान्तों के सर्वसाधारण संस्कृत यहाँ से अधिक जानने लगे हैं। अदालतों में हिन्दी न रहने से संस्कृत का प्रचार केवल ब्राह्मणों ही में बच रहा जिन्होंने इसे निरा

बछिया पुजावन विद्या कर डाला⋯⋯यद्यपि अब हम लोगों की घरेलू भाषा में बहुत दिनों तक मुसलमानों का आधिपत्य यहाँ होने से फारसी-अरबी कहीं-कहीं पर हंस के दल में कौवा के समान आ मिली है, किन्तु हिन्दी का भण्डार वही संस्कृत अब भी बनी है—जैसा प्रतिदिन के बरतने की जिनिस खाने-पीने की सामग्री चुक जाती है तो लोग भण्डार से निकालते हैं वैसा ही हिन्दी के शब्द जिस अंश में चुक जाते हैं उस अंश में नई गढ़न्त हम संस्कृत ही के सहारे से करने लगते हैं। उर्दू और हिन्दी का यही फरक भी है कि उर्दू की नई गढ़न्त के लिए सहारा अरबी फारसी है, हिन्दी के लिए संस्कृत है। इससे सिद्ध हुआ कि हिन्दी का प्रचार पाना मानों संस्कृत ही को सहारा देना है जो अब केवल हिन्दी अक्षरों के प्रचार मात्र से सुख साध्य है।⋯⋯"—हिन्दी प्रदीप, १८९७ जिल्द २१ सं० १-२।

म्युनिसिपैलिटी में हिन्दी में काम-काज होने के सम्बन्ध में भट्टजी लिखते हैं—

"सोचने से यही मन में आता है कि म्युनिसिपल वा लोकल बोर्ड का जो कुछ है वह सब रियाया का है जिसे सरकार पहले खुद करती रही पर⋯⋯ आत्मशासन-प्रणाली "लोकल सेल्फ गवर्नमेंट" की बुनियाद इस देश में जमाने के लिए उसे प्रजा को सौंप दिया—⋯म्युनिसिपैलिटी की जान चुंगी है जिसके देनेवाले मुख्य कर महाजन दूकानदार सौदागर हैं जिनके बहीखाते बीजक चिट्ठी-पत्री आदि सब महजनी और हिन्दी ही में रहते हैं⋯⋯तो उर्दू म्युनिसिपैलिटी के दफ्तरों को क्यों सब ओर से आक्रमण किये है—यदि यह कहा जाय अदालतों में उर्दू जारी

है···तो इसका उत्तर यही हो सकता है कि अदालत गवर्नमेंट का दफ़्तर है। गवर्नमेंट चाहे दो सींग अपने माथे पर जमा ले हमें क्या पड़ी जो मना करें? हमारा कुछ दावा है—हमारे निज का हक्क हमें क्यों न दिया जाय······उर्दू अक्षरों के कारण चुंगी का महसूल देना अथवा फेर लेना व्यापारियों को कितना कष्टदायी होता है। कभी-कभी तो और का और पढ़ लिया जाता है—ऐसे-ऐसे अन्याय नागरी के स्वच्छ अक्षरों के प्रचलित होने से मिट जायँगे जो लिखा रहेगा वही पढ़ा जायेगा और सब तरह की आसानी होगी।"—हिन्दी प्रदीप, १८९८ जिल्द २१ सं० ९-१०

भट्टजी इस सम्बन्ध में बराबर लिखते रहे पर 'नक्कारखाने में तूती की आवाज' का क्या असर हो सकता था!

यह बात न थी कि केवल महाजन, दूकानदार इत्यादि उर्दू से आजिज़ थे। बड़े-बड़े सम्भ्रान्त व्यक्ति जो उर्दू लिख-पढ़ नहीं सकते थे उन्हें भी बड़ी दिक्कत होती थी। इस सम्बन्ध में एक बहुत पुरानी बात याद आ गयी। वह १९२५ के आस-पास की बात है। उस समय मैं स्थानीय नगरपालिका का एक्जेकेटिव आफिसर था। एक दिन मेरे पास महामहोपाध्याय पं० गंगानाथ झा महोदय का एक पत्र आया। १९०९ में जब मैं बी० ए० में पढ़ता था तब वे म्योर सेन्ट्रल कालेज में संस्कृत के प्रधानाध्यापक थे। उनके क्लास में मैं बहुत तेज था अतः वे मुझसे विशेष स्नेह रखते थे। १९२५ में जो उनका निजी पत्र मेरे पास आया था उसे ज्यों का त्यों उद्धृत करता हूँ:—

My dear Braj Mohan,

Here is absurdity in response to absurdity. Your Office persists in sending letters and bills

to me in a language and script which I do not know. I am therefore replying to them similarly.

Yours affectionately,
Ganga Natha Jha

(प्रिय ब्रजमोहन, यह लो मूर्खता का जवाब मूर्खता से। तुम्हारा दफ्तर बराबर मेरे पास पत्र और बिल ऐसी भाषा और लिपि में भेजता है जो मैं नहीं जानता। अतः मैं भी 'तुर्की बतुर्की' जवाब भेज रहा हूँ। सस्नेह गंगानाथ झा।)

झा महोदय का टैक्स सुपरिंटेंडेंट के नाम यह पत्र था :—

कर-निरीक्षकमहोदयाः, प्रणामाः विलसन्तु,

आपका बिचित्राक्षर लिखित पत्र अवगत हुआ। उसका समझ पाना मेरी अल्पबुद्धि की सामर्थ्य के परे है अतः उसे लौटा रहा हूँ। आप ही उसे पढ़ सकते हैं और आप ही उसे समझ भी सकते हैं। आप स्वयं ही उसपर कार्यसम्पादन कर मुझे अनुग्रहीत करें। किमधिकम् विज्ञेषु। विचित्र-लिपिपीडितः

गंगानाथ झा

मैंने अपना 'निजी' पत्र निकालकर झा महोदय का पत्र कुतूहलवश टैक्स सुपरिंटेंडेंट के पास भेज दिया। मौलवी मुज़ामिल उल्लाह खाँ साहब को भला वह पत्र कैसे समझ में आ सकता था? भागे-भागे हमारे पास पत्र लेकर आये। मैंने उन्हें समझा-बुझाकर बिदा किया। यह कहना न होगा कि झा महोदय से मैंने क्षमा माँगी और उन्हें आश्वासन दिया कि भविष्य में कम से कम उनके पास म्युनिसिपैलिटी से बिल, पत्र इत्यादि हिन्दी में जाया करेंगे।

हिन्दी की वर्तमान दशा दिखलाते हुए भट्टजी कहते हैं :—

"......राज्य की अबाध्य कृपा से हमारी हिन्दी कुत्ते-खसी में पड़ी दुर्गति सह रही है—हिन्दी भाषा के विद्वानों की आपसी मतविभिन्नता के कारण भाषा की उन्नति तो एक ओर रही उलटी अवनति-सी होती समझ पड़ती है; इसलिए कि जरा सी हिन्दी जाननेवाले अपने को गुरुर्गुरु मान लेते हैं......नया मार्ग खोजते-खोजते ऐसे अनगढ़ शब्द निकाल लेते हैं जिसके प्रचार होने से साहित्य के यथार्थ का लोप-सा होता जाता है।...ऐसी दशा में जब कि हिन्दी किसी स्थिर क्रम पर नहीं आई कि इसके अपने-अपने ढंग के विचित्र स्टाइल बन गये, पंडित स्टाइल, बनिया स्टाइल, मौल्वी स्टाइल, मुंशी स्टाइल, बंगाली स्टाइल कहाँ तक गिनावें......। जरा हिन्दी भाषा के इन महामहोपाध्यायों से पूछें कि हमारी भाषा की उन्नति का यही बड़ा अच्छा क्रम है कि एक ही घर में १६ चूल्हे जलैं ? तो निश्चय हुआ कि इन स्टाइलों की परस्पर विभिन्नता और मतभेद हमारी भाषा के जिल्लत का मुख्य कारण है......जैसी दशा गद्य की है वैसी ही फजीहत पद्य की भी हो रही है—खड़ी बोली, पड़ी बोली, बैठी बोली, अधर में लटकी बोली आदि तरह-तरह की बोलियाँ ईजाद की गई हैं। इन दिनों की हिन्दी कविता का ढंग क्रियाओं में थोड़ा अदल-बदल कर संस्कृत शब्दों को ठूँस देना है—"

—हिन्दी प्रदीप, १९०४ जि० २६ सं० १, २, ३, ४

हिन्दी सम्पूर्ण भारतवर्ष की राष्ट्रभाषा हो और लिपि देवनागरी हो इसपर १८८६ ही में भट्टजी ने बहुत जोर दिया था। आप लिखते हैं :—

"यदि देश का कुछ भी अभिमान हमको है तो ऐसा उपाय हमें शीघ्र करना चाहिए कि जिससे हमारी एक जातीय भाषा हो जाय।

यहाँ पर इतना हमें अवश्य कहना चाहिए था कि यद्यपि जातीय भाषा हम लोगों की कोई नहीं परन्तु जातीय अक्षर हैं और जो कोई हमारी जातीय भाषा कभी होवेगी इसके अक्षर भी वे ही होने चाहिएं जिनमें की इस समय जातीयता है—वे अक्षर देवनागरी हैं—और भारतवर्ष की वर्तमान भाषाओं में एक भाषा भी ऐसी है जो इन उक्त अक्षरों में लिखी जाती है और वह भाषा ईश्वर की कृपा से हिन्दी है—और फिर यह भी है कि यही हिन्दी थोड़ी बहुत भारतवर्ष के सब भागों में समझी जाती है और अधिक भागों में बोली जाती है।

इससे हमारी समझ में तो यही आता है कि यदि भारतवर्ष की कभी कोई जातीय भाषा होगी तो वह यही हमारी प्यारी सर्वगुण आगरी नागरी ही होगी और यथार्थ में इसी को ऐसा बनने का अधिकार है। ......शिष्ट और माननीय पुरुषों की झुकावट इधर होना चाहिए।"

—हिन्दी प्रदीप, १८८६ जिल्द ९ सं० ६

जरा सोचने की बात है और लज्जित होने की बात है कि १८८६ में भट्टजी ने यह आवाज़ उठाई कि हिन्दी हमारी राष्ट्रभाषा हो। इसे कहे अनेकों वर्ष हो गये और नगरपालिकाओं तक में उर्दू भले आदमियों की जबान की तरह कायम रही और आज १९५९ है अर्थात् भट्टजी को कहे ६३ वर्ष हो गये और अब भी हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने और

शिक्षण का माध्यम बनाने में आनाकानी हो रही है। इसे हम देश का दुर्भाग्य कहें या हिन्दी का ? यह कहना पड़ता है 'समय एव करोति बलावलम्'। समय बलवान् को निर्बल कर देता है। सम्भव है लोग सोचते हों 'कालो ह्ययं निरवधिः' काल की तो कोई सीमा होती नहीं जल्दी काहे की है। भट्टजी जीवित होते तो उनकी आत्मा काँप उठती।

नाटककार भट्टजी

भट्टजी को नाटक बहुत प्रिये थे। उन्होंने हिन्दी में लगभग एक दर्जन बहुत अच्छे नाटक लिखे भी हैं। उनमें पार्ट भी किया है। उन्होंने प्रयाग में 'हिन्दी नाट्य-समिति' की स्थापना की थी। उसके अन्तर्गत समय-समय पर बहुत से नाटक खेले भी गये। उस समय प्रयाग में नाटकों की एक बाढ़-सी आ गई थी। अभिनेताओं में बड़ा जोश और उत्साह था। मैंने स्वयं उस नाट्य समिति से अभिनीत कई नाटक देखे थे। सीन-सीनरी को छोड़कर—जिनमें बहुत पैसा लगता है, जो समिति के पास नहीं था—जहाँ तक अभिनय का सम्बन्ध है वह किसी भी 'प्रोफेशनल' कम्पनी से घटकर नहीं होता था। भट्टजी के ज्येष्ठ पुत्र पं० महादेव भट्ट और भट्टजी के शिष्य पं० रासविहारी शुक्ल तो ग़ज़ब की एक्टिंग करते थे। इस सबके प्राण थे भट्टजी और यह उन्हीं की प्रेरणा का फल था। एक बार इस समिति ने अभिज्ञान शाकुन्तल का नाटक खेला। मैं मौजूद था। भट्टजी सूत्रधार बने थे। सूत्रधार नान्दी का पाठ करता है। बूढ़े भट्टजी ने मंच पर आकर "यासृष्टिः

ऋष्टुराद्या वहति विधिहुतं या हविर्या च होत्री" का पाठ किया और श्वेत पुष्प मंच के आगे बिखेरे। देखते ही बनता था। शुभ्र वदन, शुभ्र वस्त्र धारण किये हुए, देदीप्यमान आकृति, भट्टजी मंथर गति से जैसे ही रंगमंच पर आये सम्पूर्ण पंडाल करतल-ध्वनि से गूँज उठा। सचमुच उस समय भट्टजी पर रूप चढ़ा था। उनके शरीर से एक पुनीत आभा बिखर रही थी। मुझे सहसा भट्टजी का वह प्रिय श्लोक याद आ गया जिसका उद्धरण चन्द्रोदय वर्णन के प्रसंग में उन्होंने 'हिन्दी प्रदीप' में किया है। श्लोक है भी संस्कृत साहित्य में अनुपम :—

"संध्या शोणाम्बरजवनिका कामिनोप्रेम नाट्यं
नान्दी आभ्यद् भ्रमरविरुतं मारिषः कोऽपि कालः।
तारापुष्पाञ्जलिमिव किरन् सूचयन् पुष्पकेतोः
नृत्यारम्भं प्रविशति सुधादीधितिः सूत्रधारः॥

यह चन्द्रोदय का वर्णन है। कवि ने नाट्य रंगमंच का पूरा चित्र खींचा है। सूर्यास्त के समय पश्चिम दिशा रक्त वर्ण हो जाती है, वही रंगमंच का परदा है; कामीजनों के नाट्य का अभिनय है, संध्या समय भ्रमरों का गुंजन ही नांदीपाठ है; सोहावना समय सूत्रधार का सहायक मारिष है। सुधादी-धिति चन्द्रदेव सूत्रधार है। ऐसे सुहावने समय में चन्द्रदेव रूपी सूत्रधार अँजुली से तारागण रूपी पुष्पों को बिखेरता हुआ और भ्रमरों के गुंजन के द्वारा यह सूचना देता हुआ कि कामदेव का नृत्य आरम्भ हो रहा है, रंगमंच पर आया।

भट्टजी उस समय वृद्ध तो थे ही, उनकी आँखों की ज्योति भी बहुत कुछ जा चुकी थी। मंच के सामने फुट लाइट की

चकाचौंध रोशनी के कारण भट्टजी निश्चित न कर सके कि किस ओर से मंच के बाहर निकलें। मंच ही पर से इधर-उधर आँख फेरते हुए धीरे से बोले "भैया, किधर से बाहर निकली"? कोई अभिनेता तुरन्त पीछे से मंच पर आकर भट्टजी को बाहर ले गया। यह घटना कहने-सुनने में बड़ी छोटी-सी है परन्तु इसका गम्भीर्य अथाह है। एक महान् व्यक्ति जिसने जीवन भर प्राणपण से हिन्दी की सेवा की, जिसकी सेवा करते-करते और 'प्रदीप' में स्नेह भरते-भरते उसके बुझने के साथ-साथ और उसी के कारण जिसकी आँखों की ज्योति स्वयं बुझ गई, वह उस वृद्धावस्था में भी हिन्दी की सेवा करने में नहीं चूकता और नवयुवकों को उसकी सेवा के लिए निरन्तर प्रोत्साहित करता रहा। इन नाटकों के अभिनेताओं में एक श्री देवेन्द्रनाथ बनर्जी थे, जो अपने को डी० बानर (D. Bonner) कहते थे और ऐसा हस्ताक्षर भी करते थे। अँगरेजी क़िता के आदमी थे। चौबीस घंटे सजे-बजे रहते थे। सुन्दर तो थे ही, कुछ मादारुख़ भी थे। नाटकों में स्त्री का पार्ट करते थे। 'फारिगुल बाल' (मुछमुंडे) रहते थे। फीमेल पार्ट करने के लिए यह आवश्यक भी था। मुनिया (लक्ष्मीकान्त भट्ट, भट्टजी के तृतीय पुत्र) के लंगोटिया यार थे। भट्टजी उनकी वेश-भूषा देखकर उनका बड़ा मज़ाक उड़ाया करते थे। कहते "कबे, तोका बनै ठनै में कै घंटा लगत है?" बानर महोदय केवल मुसक़िरा देते, कुछ जवाब न देते क्योंकि बहुत कम सखुन थे। यह बात उनके स्त्री-सुलभ स्वभाव के विपरीत पड़ती थी। फिर भी पार्ट अच्छा करते थे। 'लीपी-पोती डेहरी, ओढ़े-बीढ़े मेहरी' किसको अच्छी नहीं लगती?

भट्टजी और पं० श्रीधर पाठक

भट्टजी की और पाठकजी की बहुत बनती थी। पाठकजी प्राय: भट्टजी से मिलने जाया करते और उनसे प्रेरणा ग्रहण करते थे। यद्यपि पाठकजी हिन्दी-प्रदीप में बराबर लिखते थे, तथापि भट्टजी को तो हमेशा लेखों का टोटा रहता था। वे पाठकजी से तकाज़ा करते ही रहते थे। इसी प्रकार अपना पेट न भरकर 'प्रदीप' का पेट भरते थे।

भट्टजी 'प्रदीप' की नाज़बरदारी भी करते थे और फर्माबरदारी भी करते थे। वाह रे समय!! और वाह रे इन हिन्दी के कर्णधारों की लगन? जिससे हिन्दी की उत्तरोत्तर उन्नति होती जाती है। एक समय वह था कि सम्पादक लोग लेखकों का मुँह ताकते रहते थे। अब यह है कि लेखक लोग सम्पादकों का मुँह जोहते हैं। 'हिन्दी प्रदीप' के बन्द होने के बाद भी पाठकजी स्वरचित पुस्तकें और कविताएं भट्टजी के पास अवश्य भेजते थे। सन् १९१२ में जब उन्होंने 'जार्ज-वन्दना' भेजी तो उत्तर में भट्टजी ने यह व्यंग्यपूर्ण पत्र लिखा :—

श्री

प्रणतय:

कविवर श्रीधर क्यों न कहाँयँ—
जिनकी रची कितबिया बहुत एक आँयँ।
सरस रसीली कविता पाय,
रूखा को अस जेहि नहिं भाय?
भट्ट उजड्ड का देहि हैं राय?
बूढ़ अकिल सब दिहिन गँवाय।
श्री जार्ज भूप की महिमा गान

करि हैं अब हम हूँ लै तान ।
धन्यवाद कहि बारंबार
पठवहुँ स्वीकृतिपत्र उदार ।
३१।१।१२ वालबुद्धि—बालकृष्ण

भट्टजी की आँखें 'हिन्दी प्रदीप' का सम्पादन करते-करते खराब तो हो ही गई थीं । बाद में मोतियाबिन्द हो गया । सन् १९०८ में उन्होंने आँख खुलवाई । थोड़ी बहुत रोशनी आई पर उतने से क्या होता ? उस समय भट्टजी का एक अत्यन्त कारुणिक पत्र जो उन्होंने पं० श्रीधर पाठक को सिमला के पते से लिखा था उसे नीचे देता हूँ :

श्रीशः पायाद्वः

श्रीमत्सु (···कुछ अक्षर नहीं है) समय अतिदीन···कृपा-पात्र हो गए । हमारी आँख जाती रही । खुलाया है पर पढ़-लिख नहीं सकते । इसीसे पत्र में भी देर हो गई जो भेजा है पहुँचा होगा । अब आगे निकालने की कौन आशा करें । हमारा तो अब जीवन व्यर्थ हो रहा है—ईश्वर का हम पर कोप है । पढ़ना जो जीवन का सार था उसमे हम वंचित हो गए ।

प्रयाग १७-५-१९०८ कृपाकांक्षी
बालकृष्ण

पं० माधव शुक्ल भट्टजी के प्रिय शिष्यों में थे । प्रतिभा-शाली कवि थे । 'हिन्दी प्रदीप' में भी प्रायः कविता लिखते थे ।

सन् १९०८ में उन्होंने 'प्रदीप' में एक कविता लिखी जिसका शीर्षक था "बम क्या है" वह 'प्रदीप' के बन्द होने से सम्बन्धित है । उसके दो-तीन छन्द उद्धृत करता हूँ :—

बम् क्या है

कुछ डरो न केवल इसमें बुद्धि भरम है
सोचो यह क्या है जो कहलाता "बम" हैं।
यह नहीं स्वदेशी आन्दोलन का फल है।
नहीं "बायकाट" अथवा "स्वराज्य" की कल है।
नहिं भारतवासी नाम भी इसका जाने।
नहिं क्रिया चलाने की इसकी पहचाने॥
नहिं कभी स्वप्न में देखो पक्ष गरम है॥ सोचो॥

२

"यह" है एंग्लो इण्डियन पत्र की माया।
जिनने अँगरेज़ों को मिथ्या भड़काया॥
जो हुआ जुल्म निर्दोषी हिन्दुन ऊपर।
तिससे यह निकला इस स्वरूप में बनकर॥
निश्चय जानो "यह" दिल का पका वरम है॥ सोचो॥

३

जब जब नृप अत्याचार महा करते हैं।
और प्रजा दुखी चिल्लाते ही रहते हैं॥
नहिं दीनों की जब कहीं सुनाई होती।
तब इतिहासों की बात सत्य ही होती॥
"माधव" कहता, यह किसका बुरा करम है।
सोचो यह क्या है जो कहलाता बम् है॥

—हिन्दी प्रदीप, १९०८ जिल्द ३० सं० ४

इस कविता का छपना क्या था, 'प्रदीप' के ऊपर बम गिरा। सरकार तो योंही भट्टजी से कुढ़ी रहती थी, उन्हें 'कबाब में हड्डी' समझती थी, और अपनी घात में रहती थी। आए दिन तो कलेक्टर के यहाँ भट्टजी की तलबी होती ही रहती

थी, पर इस कविता से शासन को दमन का एक साधन मिल गया। सरकार ने भट्टजी से ३०००) की जमानत माँगी। भट्टजी के ऊपर मानो वज्र गिरा। उन्हें गृहस्थी और प्रेस के पेट भरने के लिए तो पैसा जुटता ही न था, जमानत कहाँ से देते ? परिणाम यह हुआ कि १९०९ में अप्रैल का चौथा अंक निकलकर अगाध स्नेह रहते हुए प्रदीप सर्वदा के लिए बुझ गया।

प्रतिकूलतामुपगते हि विधौ विफलत्वमेति बहुसाधनता।
अवलम्बनाय दिनभर्तुरभून्नपतिष्यतः करसहस्रमपि ॥—माघ'

जब विधि प्रतिकूल हो जाता है तो कितने ही साधन क्यों न हों, सब विफल हो जाते हैं। जब सूर्य डूबने लगता है तब उसके सहस्र किरणरूपी कर भी उसे उठाने में असमर्थ होते हैं।

जिस प्रकार श्राद्ध के अन्त में चावलों के झटके से दीप निर्वाण किया जाता है, उसी प्रकार इस पुनीत 'प्रदीप' को होता ने ३०००) रुपयों के झटके से बुझा दिया ?

मजे पर किस्सा आया था कि नज़्मे जिन्दगी बिगड़ा
कहाँ पर ख़त्म कर दी बेवफ़ा ने दास्ताँ मेरी !

अप्रैल १९०९ में 'हिन्दी प्रदीप' बुझ गया। भट्टजी का साहित्यिक जीवन एक प्रकार से समाप्त हो गया, फिर भी अभी हिन्दी की सेवा बाकी थी। जिस प्रदीप को भट्टजी अपने स्नेह से भरा-पूरा रखते थे, जिस साहित्य-वृक्ष को अपने खून से सींचकर वे सदा पुष्पित और पल्लवित रखते थे, जिसमें फल के टिकोरे लग रहे थे, उसका विधि ने क्षण-भर में मूलोच्छेद कर दिया।

गुलिस्ताने-हयाते-चन्दरोज़ा का न सुन क़िस्सा।
बहार आई थी बरसों में खिज़ां आई घड़ी भर में ॥
—शौकत थानवी

उपसंहार

विस्मृत संस्मरण

इसके पहिले कि मैं भट्टजी के जीवन के अन्तिम दिनों के संस्मरण लिखूँ, थोड़े-से पुराने संस्मरण जिन्हें मैं प्रायः भूल चुका था सहसा सामने आ गये। संस्मरण ही तो ठहरे। उन पर किसी का ज़ोर नहीं चलता। अब जब आ ही गये तो उनका स्वागत करना कर्तव्य हो जाता है। ये संस्मरणँ कुछ उन सम्भ्रान्त अतिथियों की तरह होते हैं, जो रसोई उठते-उठते आ जाते हैं। देर में आने के कारण उनका अनादर करना भारतीय संस्कृति के विरुद्ध है। क्रम भंग तो होगा, परन्तु वे उल्लेखनीय हैं।

भट्टजी के समाज-सम्बन्धी सुधारक विचारों के कारण कुछ पुराने खूसट विचारों के समकालीन लोग उन्हें 'किरिंस्तान'

कहते थे । ऐसे कुछ लोगों की गोष्ठी प्राय: निकट के लोकनाथ महादेव नामक स्थान पर जमती थी और उसमें बहुत-सी ख़ुराफ़ात की बातें हुआ करती थीं। प्राय: समालोचना का विषय भट्टजी के सामाजिक विचार होते थे जिन्हें वे बड़ी बेरहमी से 'हिन्दी प्रदीप' में लिखते थे । एक दिन जब वह गोष्ठी लोकनाथ महादेव पर जमी हुई थी, सदस्यों के सौभाग्य से, एक संन्यासी स्वामी जी, भट्टजी को खोजते हुए वहाँ आये और पूछने लगे कि 'हिन्दी प्रदीप' के सम्पादक पं० बालकृष्ण भट्ट का मकान यहाँ से कितनी दूर है । इस पर उस गोष्ठी में बैठे हुए लोगों ने कहा कि महाराज वह 'क्रिस्तान' है, संन्यासी होकर आप उसके पास जाकर क्या करेंगे ? इसपर उन संन्यासीजी ने कहा कि "नहीं बाबा, हमें क्रिस्तान ही के पास जाना है ।" इसपर पूछते-पूछते उक्त स्वामीजी भट्टजी के घर तक पहुँच गये । उस वक्त भट्टजी तख्त पर बैठे हुए 'हिन्दी प्रदीप' के लिए कोई लेख लिख रहे थे । यह वही तख्त था जिसपर सम्पूर्ण 'हिन्दी प्रदीप' का सम्पादन हुआ था । स्वामीजी ने वहाँ पहुँचते ही भट्टजी से ईषत् हास्य से पूछा "क्या बालकृष्ण भट्ट क्रिस्तान आप ही हैं ?" भट्टजी ने कहा, "क्या बात है महाराज । बैठिए ।" इसपर उन्होंने बैठते हुए बताया, "मैंने रास्ते में कुछ लोगों से पूछा कि भट्टजी का मकान कहाँ है तो उन्होंने कहा कि आप क्रिस्तान के यहाँ जाकर क्या करेंगे ?" स्वामीजी 'स्वामी हंस' के नाम से प्रसिद्ध थे और सुधारक विचार एवं दिव्य आकृति के किसी राजघराने के प्रतीत होते थे। वे संस्कृत के अच्छे विद्वान् थे और हिन्दू जाति के सुधार के काम में लगन

रखते थे। भट्टजी के 'हिन्दी प्रदीप' के ग्राहक थे और भट्टजी के सामाजिक विचारों से पूर्ण सहमत थे तथा भट्टजी का अत्यन्त आदर करते थे।

एक रोचक घटना अभी याद आई जो उल्लेखनीय है। प्रयाग के एक सम्भ्रान्त और रईस परिवार में डिप्टी सोमेश्वरदास हो गये हैं, जो डिप्टी कलेक्टर के पद पर कुछ समय थे। वे भट्टजी के शिष्यों में थे। मिडिल तक भट्टजी से उन्होंने अँगरेजी, संस्कृत, हिन्दी आदि पढ़ी थी। उन दिनों मिडिल की वही क़द्र थी जो बी० ए० की आजकल है। ऊँचे तथा सरकार के ख़ैरख़्वाह घराने के होने के कारण केवल मिडिल पास होते हुए भी वे सरकार की ओर से डिप्टी कलेक्टर के पद पर नियुक्त कर दिये गये थे। भट्टजी के छात्र होने के नाते तथा भट्टजी के उदात्त चरित्र से प्रभावित होकर वे भट्टजी की बहुत प्रतिष्ठा तथा आदर करते थे। डिप्टी कलेक्टर हो जाने पर भी उन्हें भट्टजी 'अबे' करके सम्बोधित करते थे और उस 'अबे' को वे आशीर्वाद के रूप में ग्रहण करते थे। ठीक भी है। भट्टजी अकसर कहा करते थे :—

अन्यमुखे दुर्वादो यः प्रियबदने स एव परिहासः।
इतरेन्धनजन्मा यो धूमः स एवागुरुसम्भवो धूपः॥

जो बात किसीके मुँह से गाली लगती है वही बात प्रियजन के मुँह से भली मालूम होती है। ईंधन की लकड़ी से उत्पन्न धुआँ दुखदायी होता है और उसे धूम कहते हैं और अगुरु की लकड़ी से निकला हुआ धुआँ सुखदायी होता है और उसे धूप कहते हैं।

इसी प्रकार भट्टजी के मुँह से 'अबे' शब्द डिप्टी साहब को सुखदायी था। डिप्टी कलेक्टर के रूप में उनकी प्रथम बार नियुक्ति सीतापुर में हुई। एक बार वे अपने गुरु भट्टजी को बड़े आदर के साथ सीतापुर ले गये और वहाँ उनका बड़ा आतिथ्य-सत्कार किया। एक दिन भट्टजी को वे कचहरी में अपने इजलास में भी ले गये। अपने बगल में ही एक कुरसी रखवाकर भट्टजी को उसपर बिठाया। उनके इजलास में एक अभियुक्त का मुकदमा पेश था। अभियुक्त और उसके स्त्री-बच्चे रो रहे थे। भट्टजी सब देखते जा रहे थे। उनका सरल हृदय करुणार्द्र हो गया। जब फैसला सुनाने का समय आया तो इजलास में ही सबके सामने भट्टजी ने अपने डिप्टी-कलेक्टर शिष्य से आग्रह के साथ बार-बार कहा, "अबे एको छोड़ दे! छोड़ दे बे! छोड़ दे!" वकील आदि जो वहाँ हाज़िर थे, सब आश्चर्य से स्तब्ध थे। पर डिप्टी साहब मुस्करा रहे थे और कहना नहीं होगा कि अपने गुरु के आग्रह पर उन्होंने उस अभियुक्त को छोड़ दिया। यह घटना भट्टजी के भोले, निश्छल और 'मृदूनिकुसुमादपि' हृदय एवं उनके उदात्त चरित्र के प्रभाव का ज्वलन्त उदाहरण है।

मेरे पूज्य पिता डाक्टर जयकृष्ण व्यास भट्टजी के अभिन्न मित्र थे। पिताजी की प्रायः प्रतिदिन भट्टजी के यहाँ बैठक होती थी और जिस दिन वे केवल कमीज और धोती पहिनकर इतमीनान के साथ जाते थे उस दिन हम लोग समझ लेते थे कि आज दोनों की जमकर बैठक होगी और वास्तव में वह गोष्ठी दो घंटे से कम की न होती थी। उस बैठक में साहित्यिक,

सामाजिक, राजनीतिक, कोई ऐसा विषय न होता था जिसकी चर्चा न होती। मेरे पिताजी से भट्टजी को बड़ा सहारा और सम्बल मिलता था। वे भट्टजी के सच्चे मित्रों एवं शुभचिन्तकों में थे।

एक दिन भट्टजी सन्ध्या समय मेरे यहाँ आये थे। बात-चीत करते रात हो गयी। भट्टजी जब जाते समय सीढ़ी उतरने लगे तो पिताजी उन्हें लालटेन दिखलाने लगे ताकि भट्टजी सुगमता से उतर सकें। भट्टजी बोले, 'महाराज, कष्ट न करो।" पिताजी बोले, "अपना कष्ट ही बचाने के लिए लालटेन दिखला रहे हैं।" भट्टजी हँसने लगे और बोले, "ठीकै तो कहत हौ सरकार, जो गिर पड़बै तो आपैको तो भोगै पड़ी।" पिताजी डाक्टर जो थे।

पं० जनार्दन भट्ट हमारे संस्मरण-नायक के सबसे छोटे पुत्र हैं। भट्टजी के पुत्रों में भगवत्कृपा से अब यही एक जीवित हैं। भट्टजी जब अपने माता-पिता का गयाश्राद्ध करने गये तो रात्रि में भट्टजी को स्वप्न में डेविड साहब दिखलाई पड़े। उन्होंने भट्ट जी से कहा "हमारे नाम पिण्डदान न करोगे ?" दूसरे दिन भट्टजी ने और देव, पितरों के साथ "डेविडाय स्वधा" कर डेविड साहब के नाम पिण्डदान किया। भट्टजी जब मिशन स्कूल में अँगरेजी पढ़ते थे उस समय डेविड साहब हेड मास्टर थे। वे भट्टजी को प्रतिभा के कायल थे और उन्हें बहुत मानते थे। बाद में उन्होंने भट्टजी को अपने स्कूल में अध्यापक की नौकरी भी दी, जिसके कारण भट्टजी को आर्थिक संकट में बड़ी सहायता मिली। भट्टजी ऐसा सहृदय व्यक्ति

भला इसे कैसे भूल सकता था ?

श्राद्ध करने के समय भट्टजी ने तीन वरदान माँगे थे—

(१) पैत्रिक सम्पत्ति में से एक पैसा भी हमें न मिले।

(२) हमारे पुत्र-कन्यादि सभी का चरित्र निर्मल रहे।

(३) हमारा एक पुत्र संस्कृत का विद्वान् हो।

भक्त-वत्सल भगवान् भला अपने ऐसे सच्चे भक्त की बात कैसे टाल सकते थे ? उनके तीनों ही अभिलषित पूरे हुए।

बहुत दिन की बात है। महामना मालवीयजी को कारबंकल (carbuncle उलटा फोड़ा) निकला था। उन दिनों वे शहर में पैतृक मकान से संलग्न अपने नये मकान में रहते थे। स्वभावतः छोटे-बड़े, बहुत से लोग, बराबर उन्हें देखने के लिए आते थे। एक दिन एक बहुत बड़े राज्य के दीवान, मालवीयजी को देखने के लिए आये। उन्होंने बात शुरू ही की थी कि भट्टजी वहाँ पहुँच गये और तख़्त के एक कोने में जाकर चुपचाप बैठ गये। वे बातचीत में भाग नहीं ले रहे थे। बातचीत के सिलसिले में दीवान साहब अपने महाराज की प्रशंसा करते हुए कहने लगे, "हमारे महाराज स्त्री-शिक्षा के बड़े पक्षपाती हैं।" महामनाजी इस पर बड़े प्रसन्न हुए और भट्टजी भी कोने में बैठे हुए बोले, "धन्य हैं धन्य हैं!" इसके बाद दीवान साहब ने कहा, "और हमारे महाराज ने अछूतोद्धार के लिए राज्य में कई एक संस्थाएं खोल रक्खी हैं।" मालवीयजी ने उनके ऊँचे विचारों की सराहना की और भट्टजी भी कोने में बैठे ही बैठे कहने लगे "धन्य हैं! धन्य हैं!" परन्तु जब दीवान महोदय ने कहा कि महाराज अँगरेजी भाषा के पक्षपाती

और हिन्दी के घोर विरोधी हैं और घर में भी बच्चों तक को अँगरेजी शब्दों में प्यार करते हैं तब मालवीयजी शिष्टता के नाते तो चुप रहे परन्तु भट्टजी से सहन न हो सका, सहसा बोल उठे "ध:—" (न लिखने लायक अपमान सूचक शब्द) दीवान साहब का मुंह लाल हो गया, पलटकर भट्टजी की ओर घूरते हुए बोले "आपने क्या कहा ? फिर तो कहिए" भट्टजी ने उत्तर दिया, "हमने आपसे कुछ नहीं कहा। आप मदन से बात करने आये हैं उनसे बात करिए, हमसे क्यों उलझते हैं ?" मालवीयजी ने किसी तरह बात सँभाल ली और भट्टजी यह कहते हुए कि 'फिर आवेंगे' उठकर चले गए।

अब मैं अतिथियों के लिए दरवाजा बन्द कर देता हूँ और केवल भट्टजी के अन्तिम दिनों ही की चर्चा करूँगा।

भट्टजी के अन्तिम दिन

भट्टजी पहिले ही कायस्थ पाठशाला की प्रोफेसरी को ठुकरा चुके थे। अब 'हिन्दी प्रदीप' भी बुझ गया। निराधार हो गये। 'छूट घोड़ भुसोले ठाढ़।' कालाकाँकर से निकलने वाले साप्ताहिक 'सम्राट्' का सम्पादन-कार्य स्वीकार कर लिया। आखिर कुछ तो करना ही था। गृहस्थी जो गले पड़ी थी। 'सूनी सराय से मरकहा बैल भला' परन्तु इसमें उनका जी न लगा।

> येनामन्दमरन्दे दलदरविन्दे दिनान्यनायिषत।
> कुटजे खलु तेनेहा तेनेहा मधुकरेण कथम्॥
>
> पण्डितराज जगन्नाथ

जिस भ्रमर ने विकसित कमलों के बीच अपनी उम्र काट दी हो वह कुटज के फूलों पर अपने को कैसे न्योछावर कर सकता है ?

उन दिनों काशी नागरी प्रचारिणी सभा के तत्त्वावधान में हिन्दी का एक वृहत् कोष तैयार हो रहा था। भट्टजी वहाँ चले गये। बाबू श्यामसुन्दरदास उसके सर्वेसर्वा थे। थोड़े ही समय के बाद उनकी नौकरी कश्मीर में लग गयी। कोष का सम्पूर्ण कार्यालय वे अपने साथ कश्मीर घसीट ले गये। उस समय एक कार्टून छपा था। किसने उस कार्टून को बनाया यह तो याद नहीं है। सम्भव है भट्टजी के तृतीय पुत्र पं० लक्ष्मीकान्त भट्ट ने बनाया हो। उनसे यह 'बईद' नहीं था। उन दिनों लक्ष्मीकान्तजी का हाथ कार्टून बनाने में चढ़ा था। कार्टून के एक छोर पर काशी नागरी प्रचारिणी सभा, दूसरी छोर पर पर्वतश्रृंग और जम्मू। बीच में रेल की लाइन बिछी थी। उसपर एक इंजन और बहुत-सी रेल की ट्रकें। सब ट्रकों पर हिन्दी बृहत् कोष की मोटी-मोटी फाइलें, मेज-कुर्सी, चूल्हा-चक्की, झाबों में मघई पान और मंजन करने के लिए एक बोरा सुँघनी। ट्रकों पर पोथियों के ऊपर किसी ट्रक पर भट्टजी, किसी पर पं० रामचन्द्र शुक्ल और अन्य ट्रकों पर सम्पादक मण्डल के अन्य सदस्य, दफ्तर के कर्मचारी लोग। इंजन का भोंपू श्यामसुन्दरदासजी की मुखाकृति का बनाया गया था। उनके चश्मे के दोनों शीशों में 'सर्चलाइट' (Searchlight) फिट थी, जिसकी रोशनी धूम्रकेतु की पूँछ की तरह जम्मू तक प्रवाहित हो रही थी। भट्टजी की आकृति

देखने लायक थी। इस वृद्धावस्था में, मरने के थोड़े ही पहिले इतनी दूर घसीटे जाने के कारण, भट्टजी के रोम-रोम से जिन्दगी का मातम टपक रहा था। यद्यपि आँखें सूखी थीं पर—

शक न कर मेरी ख़ुश्क आँखों पर।
यूँ भी आँसू बहाये जाते हैं॥

राम-राम कर कश्मीर पहुँचे। परन्तु चार-पाँच महीने ही काम कर पाये थे कि काठ की सीढ़ी पर से फिसल पड़े और उनका कूल्हा उतर गया। पं० रामचन्द्र शुक्ल उन्हें जम्मू से प्रयाग पहुँचा गये। कई महीने भट्टजी चारपाई पर पड़े रहे और फिर बेसाखी के सहारे जैसे-तैसे चलने लगे। ये दिन भट्टजी के कैसे कटे यह भगवान् ही जानते हैं।

जो आदमी पै गुजरती है यास में हमदम।
सिवा ख़ुदा के किसी को ख़बर नहीं होती॥

जब कोष-कार्यालय जम्मू से काशी लौट आया तो भट्टजी फिर बुला लिये गये। परन्तु इस बार उनकी श्यामसुन्दरदासजी से खटपट हो गई। भट्टजी ने उनकी कार्यपद्धति की कड़ी आलोचना कर दी। बात ही बात में बात बढ़ गई। भट्टजी नौकरी छोड़कर प्रयाग चले आये। श्यामसुन्दरदासजी के दुर्व्यवहार से जो भट्टजी के हृदय में ठेस पहुँची सो तो थी ही, अर्थोपार्जन के सब द्वार एकदम बन्द हो गये। भट्टजी ज्यों-त्यों कर अपना जीवन बिताने लगे। एक दिन यमुना स्नान कर लौटे तो बुखार आ गया। पाँच-छः महिने चारपाई पर पड़े रहे। उत्तरोत्तर उनकी हालत बिगड़ती ही गई। शुरू-शुरू में

तो वे चारपाई ही पर पड़े-पड़े धर्मग्रंथों को पढ़ते रहते थे पर जब हालत और गिर गई तब दूसरों से समाचार-पत्र पढ़वाकर सुनते रहते थे। मैं तो प्राय: रोज ही जाया करता था। धीरे-धीरे दशा बहुत बिगड़ गई। चारपाई पर अपने से करवट लेना कठिन हो गया। उनके माँसल देह में अब केवल ठठरी भर बच रही थी। यह भय होता था कि न मालूम किस समय उनकी साँस सर्वदा के लिए रुक जाय। उसी साल उनके चतुर्थ पुत्र पं० जनार्दन भट्ट ने एम० ए० (प्रीवियस) की परीक्षा दी थी और परीक्षा देकर सम्भवत: 'प्रेम महाविद्यालय वृन्दावन' में अध्यापक होकर चले गये थे। परीक्षा-फल तब तक नहीं निकला था। भट्टजी मुझसे रोज पूछते थे, 'क भैया, जनार्दन पास भये कि नै ?' हर बार मुझे यही कहना पड़ता था कि अभी परीक्षा-फल नहीं निकला। जनार्दनजी के पास होने की उन्हें घोर चिन्ता थी। अब भट्टजी की हालत बहुत खराब हो गयी थी। स्वर इतना क्षीण हो गया था कि बहुत निकट कान लगाने से थोड़ा-थोड़ा सुनाई पड़ता था। जनार्दनजी का परीक्षा-फल निकलने ही वाला था, परन्तु मैं डरा कि कहीं ऐसा न हो कि जनार्दनजी के परीक्षा-फल के निकलने से पहिले ही भट्टजी का शरीरान्त हो जाय। तब तो बड़ा ग़ज़ब होगा। मरने के समय उनकी यह चिन्ता मैं सहन नहीं कर सका। मैंने देखा कि अब भट्टजी का कुछ ठीक नहीं, अब किसी भी समय उनका शरीरान्त हो सकता है। मैंने निश्चित किया कि मैं झूठ बोलूंगा। गाढ़े के समय झूठ बोलना पाप नहीं होता। भट्टजी मुझपर विश्वास करते थे। मैं तुरन्त उनके मकान पर गया और घर

में घुसते ही कहा, "पण्डितजी, मिठाई खिलाइये, जनार्दन पास हो गये।" भट्टजी उठ तो सकते थे नहीं बोले "का! का! जनार्दन पास होय गये!" हमारे दोहराने पर बोले "तई अपना पैर उठाय देव हम छुय लेई।" आज्ञा पालन न करने पर ज़िद करने लगे। मैंने देखा कि मेरे ऐसा न करने पर कहीं ये 'कोलैप्स' न हो जायें। मैंने घबराकर झट अपना एक पैर उनकी चारपाई की पाटी पर रख दिया। मालूम नहीं उनके शरीर में कहाँ से इतना बल आ गया कि उन्होंने स्वयं करवट ले ली और मेरा पैर छूकर आँखों में लगाया। फिर अपने सामने मुझे मिठाई खिलवायी।

"जनार्दन पास हो गए!" इस वात्सल्य को देखकर मुझे रोमांच हो आया। भट्टजी के मरने के चार-पाँच दिन बाद ही जनार्दनजी का परीक्षा-फल निकला और वे पास हो गये। जनार्दनजी अपने पिता के अन्तिम समय प्रयाग में नहीं थे। दव का कैसा दुर्विपाक है कि वह पुत्र जिसके लिए भट्टजी ने अपने पितरों का गया-श्राद्ध करते समय वरदान माँगा था कि वह संस्कृत का पण्डित हो, उसी पुत्र का मुख वे अपने अन्तिम समय में न देख सके। जनार्दनजी के पास होने का समाचार मेरे मुख से सुनकर उनको बड़ी शान्ति मिली। ऐसी शान्ति की रेखा उनके मुख पर मैंने कभी नहीं देखी थी।

एक दिन मालवीयजी उन्हें देखने आए थे। भट्टजी उन्हें पहिचान नहीं सके। समझा घर ही का कोई व्यक्ति होगा। भट्टजी ने लघुशंका करने की इच्छा प्रकट की। मालवीयजी ने झट पास में रक्खे हुए लघुशंका-पात्र को उठा लिया। भट्ट-

जी की पत्नी ने इसे देख लिया और दौड़कर मालवीयजी के हाथ से पात्र ले लिया।

इस संसार में भट्टजी का अब सब काम समाप्त हो गया था।

हो चुकीं 'ग़ालिब' बलायें सब तमाम।
एक मर्गे-नागहानी और है॥

वह 'मर्गे-नागहानी' भी आ पहुँची, और भट्टजी सोमवार २० जुलाई १९१४ को सन्ध्या समय ४ बजकर ३५ मिनट पर सुरधाम चले गए। नगर भर में यह समाचार बहुत जल्द फैल गया। उनके अन्तिम दर्शन करने के लिए लोगों की भीड़ लग गई। अपने दुर्भाग्य से भट्टजी के ज्येष्ठ पुत्र पं० मूलचन्द भट्ट और कनिष्ठ पुत्र पं० जनार्दन भट्ट उपस्थित नहीं थे। वे नगर ही में नहीं थे। भट्टजी की अरथी के साथ नगर के बहुत-से गण्यमान्य नागरिक, बन्धु-बान्धव गंगा-तट पर गये और वहाँ भट्टजी का भौतिक शरीर पंचतत्त्व में मिल गया। उनके द्वितीय पुत्र पं० महादेव भट्ट ने उनका दाह-कर्म किया मगर

किसी के मरने से यह न समझो कि जान वापस नहीं मिलेगी।
बईद शाने करीम से है किसीको कुछ देके छीन लेना॥
—अकबर

मर के टूटा है कहीं सिलसिलये-क़ैदे-हयात।
हाँ, मगर इतना है कि ज़ंजीर बदल जाती है॥

भट्टजी अवश्य इस समय किसी दूसरे चोले में हिन्दी की सेवा कर रहे होंगे, इसमें मुझे कोई सन्देह नहीं।

शोकांजलि

भट्टजी के मरने पर हिन्दी साहित्य संसार शोक से व्यथित हो गया। उस समय की 'सरस्वती' के सम्पादक और भट्टजी के अनन्य भक्त पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी जी लिखते हैं :—

"भट्टजी, तुम्हारे शरीर त्याग का समाचार सुनकर बड़ी व्यथा हुई......हमारा कण्ठ रुँधा हुआ है, हमारे नेत्र साश्रु हैं, हमारा शरीर अवसन्न है...तुम्हारी इच्छा न रहते भी तुम्हारे पान हम तुम्हारे पानदान से निकाल-निकालकर खा गये। ......अब वे सरस कथायें और पुराने कवियों की वे हृदय-रंजिनी उक्तियाँ कहाँ सुनने को मिलेंगी ? तुम तो चल दिये। संस्कृत के सुपण्डित, कायस्थ पाठशाला में संस्कृत के प्रोफेसर होकर भी तुमने हिन्दी को आश्रय दिया। अँगरेजी से अभिज्ञ होने पर भी तुमने हिन्दी का अनादर नहीं किया...पङ्गु हो जाने पर भी तुम उसमें निरत रहे, यहाँ तक कि नेत्रों के धोखा देने पर भी तुम उस व्रत के व्रती बने रहे अब हम तुम्हारी आत्मा का प्रतिबिम्ब जनार्दन में देखना चाहते हैं। अखिलेश्वर इस आशा को फलवती करे।"

—सरस्वती, १ अगस्त, १९१४ पृ० ४७२

भट्टजी के मरने पर पं० श्रीधर पाठकजी ने एक छप्पय रची थी उसे नीच उद्धृत करते हैं :—

जीवन तव अतिधन्य सबहिं विधि अहो पूज्यवर
अनुदिन अनुकरनीय चरित पावन प्रशस्ततर
धनि स्वदेश-सुचि-प्रेम नेम प्रिय प्रानहुँ सों पर
सात्विक शुद्ध विचार सतत भारतोद्धार कर

धनि 'हिन्दी प्रदीप' प्रकाशि जग मूरखता-तम-त्रास-हर ।
तव पुन्य नाम प्रिय भट्ट-श्री बालकृष्ण जग में अमर ।।

भट्टजी का नाम तो अमर हो गया और साथ ही साथ 'हिन्दी प्रदीप' का नाम भी । भट्टजी का भौतिक शरीर तो बचाया नहीं जा सकता था, परन्तु 'हिन्दी प्रदीप' का भौतिक शरीर बचाया जा सकता है । बड़े खेद का विषय है कि जिस 'हिन्दी प्रदीप' के लेखों का बड़े-बड़े साहित्यिक दम भरते हैं, जिसमें भट्टजी के अनेकानेक लेखों ने हिन्दी का मस्तक ऊँचा किया है उस 'हिन्दीप्रदीप' की यह दुर्दशा कि उसके अमूल्य अंक आज पतझड़ में सूखे पत्तों के समान इधर से उधर मारे-मारे छिन्न-भिन्न हो रहे हैं । किसी भी एक स्थान में उसके सम्पूर्ण अंक प्राप्य नहीं हैं । पर अभी समय है । सब स्थानों से एकत्र कर पूरी जिल्द बन सकती है । हम सबका कर्तव्य है कि हिन्दी के भण्डार को समृद्ध करने के लिए 'हिन्दी प्रदीप' को हम फिर से छपवा डालें वर्ना यह अमूल्य निधि सर्वदा के लिए विलुप्त हो जायगी । यदि साहित्यिकों, प्रकाशकों एवं प्रकाशन संस्थाओं से मुझे प्रोत्साहन मिले तो बिखरे हुए अंकों के एकत्र करने का भार एवं साहित्यिकों की सहायता से उसके सम्पादन का भार मैं सहर्ष अपने ऊपर लेने के लिए प्रस्तुत हूँ । भट्टजी की स्मृति को बनाये रखने के लिए उनके निवासस्थान को स्मारक बनाने और 'हिन्दी प्रदीप' को पुनः सम्पादित कराने से बढ़कर कोई उपाय नहीं हो सकता ।

भट्टजी के न होने से हिन्दी साहित्य-संसार में जो सूनापन हो गया है उसकी पूर्ति नहीं हो सकती ।

ये हालत हो गई है एक साक़ी के न होने से
कि ख़ुम के ख़ुम भरे हैं मय से, और मयख़ाना खाली है।

ये संस्मरण अब समाप्त हो गए, परन्तु

जब तक असत्य, सत्य का जामा पहिनकर मानव को बहकाता रहेगा,

जब तक व्यक्ति अपने ही सुख-दुःख में बूड़ता-उतराता रहेगा,

जब तक मानव के कान, देश एवं समाज की पुकार के लिए बहिरे रहेंगे,

जब तक ढोंग का, जिसने इस सुखमय संसार को नरक बना रक्खा है, बोलबाला रहेगा,

जब तक रूढ़ि बुद्धि पर हावी रहेगी,

जब तक मानव, तनकर खड़े हो, अनाचार और अत्याचार का सामना न करेगा,

तब तक भट्टजी का पुण्यश्लोक चरित्र लोगों को प्रेरणा देगा।

●